भेंट वीर सेवा मन्दिर

श्रीगणेशप्रसाद वर्णी जैन ग्रंथमाला २, ३,



अपभ्रंश प्रकाश

लेखक और सम्पादक—

देवेन्द्रकुमार एम० ए०, साहित्याचार्य, साहित्यरत्न

प्रस्तावना लेखक—

श्रीमान् पं० विश्वनाथप्रसादजी मिश्र

प्राध्यापक, काशीविश्वविद्यालय

प्रकाशक—
श्री गणेशप्रसाद वर्णी जैन ग्रंथमाला,
२।३८ भदैनी, काशी

प्रथम संस्करण १०००
श्रावण पूर्णिमा (रक्षाबंधन) वी० नि० सं०२४७८
मूल्य ३)

मुद्रक—
एम० जी० ललित,
ललित प्रेस,
के० ६।७ पत्थरगली, बन

समर्पण

जिनके चरणों में बैठकर मैंने कुछ सीखा, और जो,
भारतीय भाषाओं के एकमात्र वैज्ञानिक आलोचक,
विद्याव्यसनी, साधुचरित और सरल हृदय हैं,



उन श्रद्धेय आचार्य केशवप्रसादजी मिश्र,
[कृतकार्य अध्यक्ष हिन्दी विभाग, हिन्दू विश्वविद्यालय]
को सादर अर्पित.

श्रद्धावनत
देवेन्द्रकुमार

* श्रद्धांजलि

तवि वयि केसव वड्ढ तुहुँ, अह वि तरुण हियडेण ।
तुज्झ चित्तु धीरिम जलहि, णत्थि अहिं कित्तिफेण ॥ १ ॥

हे आचार्यवर्य केशवप्रसादजी, साधना और अवस्था में आप वृद्ध फिर भी हृदय से तरुण हैं। आप का चित्त धैर्य का समुद्र है पर उसमें कीर्ति का फेन नहीं है ॥ १ ॥

गुणहिं न सम्पइ किस्ति पर, सुनियइ लोय-पसिद्ध ।
किस्ति वि केसव ! तुज्झ गुण, किम तज्जहिं णिनिद्ध ॥ २ ॥

सुनते हैं कि लोक में गुणों से सम्पत्ति नहीं, कीर्ति मिलती है, पर हे आचार्यवर्य केशवप्रसादजी ! आप के गुण उस कीर्ति को भी क्यों त्यज देते हैं ॥ २ ॥

भासावइ ! पडिहाहि तुहुँ, जेहु नाउ गुण तेहु ।
आहिरिडीहु रसि तुहुँ, धरहि असड्ढलु नेहु ॥ ३ ॥

हे भाषापति ! आप यथानाम तथागुण हैं क्योंकि आप आभीरीभाषा [अपभ्रंश] के लिए असाधारण स्नेह रखते हैं। केशव [कृष्ण] भी आभीरीबियों [गोपियों] के लिए असाधारण स्नेह रखते थे ॥ ३ ॥

रइवर ! अप्पइ सभलु तुहु, विसया जासु न लग्ग ।
करणेहिं सेवइ तिवग्ग, कटिरेवि करे मण वग्ग ॥ ४ ॥

हे रथिवर ! आप की आत्मा सफल है, क्योंकि उसको विषय नहीं लगते। वह, मन की लगाम हाथ में लेकर इन्द्रियों से, त्रिवर्ग [धर्म अर्थ काम] का सेवन करती है ॥ ४ ॥

अम्हहं एक्कइ आस, समरसि नंदउ वरिस सय ।
करइ सुमग्ग-पयास, अग्गिउ गुरुवर सद्ध तउ ॥ ५ ॥

हमारी एक ही आशा है कि आप सौ वर्ष समरस में आनंद करते रहें। हे गुरुवर ! आगे भी आप की श्रद्धा हमारा मार्ग प्रशस्त करे ॥ ५ ॥

---

* हिन्दीविभाग, हिन्दू विश्वविद्यालय काशी द्वारा आयोजन आचार्य जी के अभिनंदन समारोह के अवसर पर पठित ।

'धणु तणु समु मज्भु ण तं गहणु
णेहु निकारिणु इच्छमि'

धन तृणवत् है, मैं उसे ग्रहण नहीं करता मैं तो अकारण स्नेह का भूखा हूं।

आचार्य पुष्पदंत

पत्तिय तोडि म जोइया फलहिं जि हत्थु म वाहि
जसु कारणि तोडेहि तुहुं सो सिउ एत्थि चढाहिं

हे जोगी पत्ती मत तोड़ और फलों पर भी हाथ मत बढ़ा, जिसके लिए तूं इन्हें तोड़ता है, उसी शिव को यहां चढ़ा दे।

कासु समाहि करउं को अंचउं
छोपु अछोपु भणिवि को बंचउ
हल सहि कलह केण सम्माणउं
जहि जहिं जोवउं तहिं अप्पाणउं

किसकी समाधि करूं। किसे पूजूं। छूत अछूत कहकर किसे छोड़ दूं। भला किससे कलह ठानूं जहां देखता हूं वहीं अपने समान आत्मा दिखाई देती है।

हउं गोरउ हउं सामलउ हउं वि विभिण्णउ वण्णि
हउ तणु अंगउ थूलु हउं एहउ जीव म मण्णि

मैं गोरा हूं, मैं सांवला हूं, मैं विभिन्न वर्ण का हूँ। में दुबला हूं, मैं मोटा हूँ—हे जीव ऐसा मत मान।

मुनि रामसिंह

प्रकाशक के दो शब्द

भारत की प्राचीन भाषाओं में अपभ्रंश का महत्वपूर्ण स्थान है। यह संस्कृत प्राकृत और आधुनिक भाषाओं के बीच की कड़ी है। इसका विशाल साहित्य अभी तक अप्रकाशित दशा में पड़ा हुआ है। हमें इस बात की प्रसन्नता है कि अब साहित्यिकों और शिक्षा-विशारदों का इसके अध्ययन, चिन्तन, मनन और अनुसंधान की ओर विशेष ध्यान गया है।

सर्व प्रथम नागपुर विश्वविद्यालय के प्रोफेसर डा० हीरालाल जी ने इस ओर विशेष ध्यान दिया था। उन्होंने बड़े परिश्रम और मनोयोग-पूर्वक सावयधम्म दोहा, पाहुड दोहा, नायकुमार चरिउ, जसहर चरिउ और करकंड चरिउ का अनुपम सम्पादन और प्रकाशन कर इसकी श्री को बढ़ाया। और भी ऐसे महानुभाव हैं जिन्होंने इस दिशा में महत्वपूर्ण कार्य किया है। उदाहरणार्थ डा० पी० एल. वैद्य अध्यक्ष संस्कृत विभाग हिन्दू विश्वविद्यालय बनारस ने महापुराण और सिद्धहेमशब्दानुशासन का सम्पादन किया है। श्रीशंकरपाण्डुरंग एम० ए० बम्बई ने भविसयत्तकहा का, और प्रोफेसर गुणे ने अपभ्रंश काव्यत्रयी का सम्पादन किया है। साथ ही इस विषय पर कुछ स्वतन्त्र पुस्तकें भी लिखी गई हैं उदाहरणार्थ—डा०वासुदेव तगारे ने हिस्टोरिकल ग्रामर आफ् अपभ्रंश, श्री जगन्नाथ राय जी शर्मा प्रोफेसर पटना विश्वविद्यालयने अपभ्रंशदर्पण, आचार्य वेचरदास जी दोशी ने प्राकृत व्याकरण नामक पुस्तकें लिखी हैं। इससे यद्यपि इस भाषा के पठन पाठन की ओर छात्रों और शिक्षासंस्थाओं का ध्यान गया है फिर भी अभी इसके प्रचार और प्रकाश में लाने की महती आवश्यकता है।

दी, इतना ही नहीं आपने कई प्रसंगों का अर्थ लगाने में अपना मूल्यवान् समय भी दिया, आपके इस सौजन्य से मैं केवल आभार मानकर नहीं उबर सकता। श्रद्धेय आचार्य विश्वनाथप्रसाद जी ने कार्यव्यस्त रहते हुए भी यथाशीघ्र प्राक्कथन लिखने की कृपा की और श्रद्धेय डाक्टर हजारीप्रसाद जी द्विवेदी अध्यक्ष हिन्दी विभाग तथा डाक्टर जगन्नाथप्रसाद जी शर्मा प्राध्यापक काशी विश्वविद्यालय ने अपनी बहुमूल्य और उदार सम्मति देकर मेरा जो उत्साह बढ़ाया है उसके लिए उन्हें मैं क्या कहूं, वे मेरे गुरुजन ही हैं। उनके आशीर्वाद का तो मै अधिकारी ही हूँ। श्रीमान् प्रो० दलसुख जी मालवणिया का भी मै अत्यन्त कृतज्ञ हू, आपने न केवल पार्श्वनाथविद्याश्रम की लाइब्रेरी का मुझे यथेष्ट उपयोग करने दिया प्रत्युत बहुमूल्य पुस्तकें तत्काल मंगवा दीं, भाई गुलाबचंद जी चौधरी एम. ए. व्याकरणाचार्य, रिसर्च स्कालर और प० अमृतलाल जी दर्शनाचार्य ने इस काम में मेरी जो सहायता की है, उसके लिए मैं उनका आभारी हू। ललित प्रेस के व्यवस्थापक श्री एन्. जी. ललित का भी आभार मानना प्रसगप्राप्त है क्योंकि उन्होंने सब काम समय पर पूरा किया। शीघ्रता और अनुभवहीनता के कारण जो भूलें रह गई हैं, उनके लिए मैं क्षमाप्रार्थी हूँ। अन्त में श्रद्धेय आचार्य जगन्नाथप्रसाद जी के शब्दों की छाया में मुझे विश्वास है कि यह लघु प्रकाश अपभ्रंश भाषा और काव्य के दुरूहपथ को आलोकित करने मे समर्थ होगा।

देवेन्द्रकुमार

प्राक्कथन

'अपभ्रंश' का पहले तो पर्याप्त वाङ्मय ही नहीं मिलता था, इधर कुछ वाङ्मय, विशेषतया जैन-पुस्तक-भांडारों से, प्राप्त हुआ है। भाषा और साहित्य दोनों दृष्टियों से प्राप्त सामग्री का अनुशीलन आवश्यक है तथा अन्य नूतन सामग्री की उपलब्धि में प्रयत्नशील होने की अपेक्षा है। जैन-ग्रंथ-भांडागारों से प्राप्त सामग्री और ग्रंथों की नामावली तथा उससे अवतरित अंशों के देखने से यह स्पष्ट होने लगा है कि प्राकृत वैयाकरणों की शौरसेनी, पैशाची, अर्धमागधी आदि प्राकृतों से हिंदी की उपभाषाओं ब्रज, खड़ी और अवधी तक आने में बीच की कड़ी, इस अपभ्रंश के देश-संबद्ध विविध स्वरूपों में मिल जाती है। व्रज, खड़ी और अवधी में जो स्थूल स्वरूप-भेद दिखाई देता है वह संस्कृत 'घोटक' के तद्भव रूपों से बहुत स्पष्ट है—घोड़ो (ब्रज), घोड़ा (खड़ी) और घोड़ (अवधी)। अर्धमागधी प्राकृत से अर्धमागधी अपभ्रंश और फिर अर्धमागधी देशी भाषा या अवधी का विकास हुआ। जैन अपभ्रंश अर्धमागधी-अपभ्रंश के रूप में अधिक मिलता है। जैनों ने अपनी आदिभाषा 'अर्धमागधी' ही मानी है। जैन ग्रंथों में से अधिक के नाम 'रास' शब्द अंत में जोड़कर बनाए गए हैं। इसका अर्थ 'काव्य' लिया गया है; जैसे नेमिनाथ-रास आदि। इसका तत्सम शब्द आकार में ठीक 'घोटक' की भाँति है—रासक। पूर्वोक्त क्रम

से इसके भी तीन रूप होते हैं—रासो (व्रज), रासा (खड़ी) और रास (अवधी)। हिंदी के 'रासो' शब्द को इसी रासक से व्युत्पन्न समझना चाहिए—रसायण, रहस्य, राजसूय, राजयश आदि से नहीं। इसका विस्तृत विवेचन मैं बहुत पहले ही कर चुका हूँ, यहाँ उसका संग्रह-संकलन अनावश्यक है। 'रासो-रासा' पश्चिमी क्षेत्र के हैं और 'रास' पूर्वी क्षेत्र का। तीनों को स्थूल रूप में देशों के नाम से कहें तो व्रज या शूरसेन, पंचनद और कोसल या अवध से संबद्ध करना होगा। 'व्रज' या शौरसेनी वा पश्चिमी अपभ्रंश के कई नाम हैं। 'नागर' तो उसका नाम है ही, एक नाम 'पिंगल' भी है। राजस्थानी या डिंगल से पिंगल की भिन्नता राजस्थान में क्या, हिंदी-साहित्य के इतिहासों तक में प्रसिद्ध है। पिंगल व्रजभाषा या सर्वसामान्य काव्यभाषा मानी जाती है और डिंगल प्रांतीय भाषा या या मातृभाषा। 'पिंगल' की रचना में वहाँ के कवियों ने प्राचीन काल से नियम बना रखा है कि प्रत्येक पद्य में 'वैण-सगाई' नामक अलंकार-योजना अनिवार्य रूप से होनी चाहिए। यदि डिंगल की रचना में 'वैण-सगाई' प्रत्येक पद्य में न मिले तो समझ लेना चाहिए कि पाठ ठीक नहीं। 'वैण-सगाई' क्या है? इसे राजस्थान के प्रसिद्ध काव्यमर्मज्ञ स्वर्गीय अर्जुनदास जी केडिया के शब्दों में लीजिए—"राजपूताने के बारहट कवियों में पिंगल की भाँति 'डिंगल' छंद-शास्त्र का भी प्रचार है। पद्य के प्रत्येक चरण का प्रथम शब्द जिस अक्षर के आदि का हो, उसी अक्षर के आदि का कम से कम एक और शब्द उसी चरण में रखने

का नियम इसमें अनिवार्य है। इससे अनुप्रास का चमत्कार होता है। इसका नाम 'वैण-सगाई' प्रसिद्ध है।"

वहीं से एक उदाहरण लीजिए—

आवै वस्तु अनेक, हद नाणो गाँठै हुवै।
अकल न आवै एक, कोड रुपैयं 'किसनिया'॥

बारहठ कवियों को यह वैण-सगाई इतनी प्रिय थी कि परवर्ती काल में कुछ ने अपनी पिंगल की रचना में भी बहुधा इस नियम के पालन का प्रयास किया है। सूर्यमल्ल जी ने प्रायः ऐसा किया है। अस्तु, जहाँ अनिवार्य रूप से वैण-सगाई मिले वह डिंगल की रचना होगी। ऐसा हो सकता है कि कोई रचना 'वैण-सगाई' से पूर्णतया अलंकृत हो फिर भी वह डिंगल की रचना न हो, पिंगल की रचना हो। पर जिसमें इसका अनिवार्य पालन न हो, कम से कम वह रचना 'डिंगल' की तो न होगी। पर इधर जनपद-भाषा का आंदोलन प्रबल होने से और अभेद से भेद की ओर जाने से 'अलगौझे' की दूषित प्रवृत्ति जगी। परिणाम यह हुआ कि राजस्थान के विद्वान् तक 'रासो-ग्रंथों' को डिंगल की रचना मानने और कहने लगे, यद्यपि इनमें डिंगल की उक्त अनिवार्य अलंकार-योजना का विधान नहीं है।

जैसा ऊपर कहा जा चुका है—'पिंगल' सर्वसामान्य काव्यभाषा का नाम था, अपनी मातृभाषा का नाम 'डिंगल' बारहठों ने रखा। यहाँ 'डिंगल' नाम की व्युत्पत्ति में फँसना अप्रासंगिक है। केवल 'पिंगल' पर ही विचार करना ठीक होगा। छंद-शास्त्र के आदि आचार्य 'पिंगल' नाम के

ऋषि माने जाते हैं। 'प्राकृतपैंगलम्' में उनके छंदों का सोदाहरण विस्तृत विवेचन है। इसी से छंद-शास्त्र का नाम देशी भाषा में 'पिंगल' पड़ गया। छंद-शास्त्र कठिन है, उसमें बड़ा विस्तार—प्रस्तार, मेरु-मर्कटी, नष्ट-उद्दिष्ट का बखेड़ा होता है। अतः जो किसी कार्य के करने में बखेड़ा, विस्तार, उलझाव आदि उत्पन्न करने लगता है उसके लिए हिंदी का मुहावरा 'पिंगल पढ़ना' काम में लाया जाता है। ये 'पिंगल' शेषनाग के अवतार माने जाते हैं अतः 'पिंगल' भाषा का दूसरा नाम 'नाग भाषा' है, जिसकी चर्चा भिखारीदास ने अपने 'काव्यनिर्णय' में की है। 'नाग भाषा' का संबंध 'नाग जाति' से है या नहीं इसका विस्तृत विवेचन पूरे प्रबंध का मैदान चाहता है। अतः उसे भविष्य के लिए छोड़ देना पड़ता है।

ये सब नाम अर्थात् नागर, पिंगल, नाग अपभ्रंश भाषा के पर्यायवाची हैं। 'नागर' से हिंदी भाषा का नाम 'नागरी' पड़ा। साथ ही यह भी स्मरण रखना चाहिए कि ये पश्चिमी अपभ्रंश के नाम हैं। 'नागर' शब्द को 'नागर' (गुजरात) जाति से जोड़ा जाय या उसका अर्थ परिष्कृत या संस्कृत किया जाय, यह पृथक् समस्या है। 'नागर' जाति से जोड़ने पर भी उसकी एक विशेषता की ओर ध्यान देना आवश्यक है। वह यह कि इसमें परिष्कार और साथ ही संस्कृत का मेल अधिक है। प्राकृत वैयाकरणों ने शौरसेनी प्राकृत के लिए 'प्रकृतिः संस्कृतम्' का जो उल्लेख किया है उसका चाहे लोग जो अर्थ लगाएँ यह तो स्पष्ट ही है कि साहित्यारूढ़ होने पर शौरसेनी प्राकृत संस्कृत शब्दों का आकलन अधिक करती रही है यही विशेषता शौरसेनी अपभ्रंश या

नागर अपभ्रंश की है। इसके विपरीत अर्धमागधी प्राकृत और अर्ध-मागधी अपभ्रंश में प्राकृत—जन-प्रचलित—शब्दों की, ठेठ शब्दों की प्रवृत्ति अधिक थी। यह परंपरा पूर्णतया सुरक्षित है। जैनों के अर्धमागधी अपभ्रंश या अवधी भाषा में ठेठ का ग्रहण अधिक है। जायसी आदि हिंदी कवियों ने अवधी का जो रूप रखा है उसका कारण केवल यही नहीं कि उन्होंने जनता की भाषा ज्यों की त्यों ले ली, प्रत्युत यह भी है कि उसकी प्रकृति प्राकृत या जन-प्रचलित या तद्भव या ठेठ शब्दों की ही है। तुलसीदासजी ने संस्कृत का, शौरसेनी या ब्रज का मेल करके उसे सर्वसामान्य ब्रजभाषा की प्रतिद्वंद्विता में खड़ा किया। फल यह हुआ कि आगे की भाषा ब्रज और अवधी से मिलकर एक मिली-जुली भाषा हो गई जिस खिचड़ी भाषा का व्यवहार हिंदी के रीतिकाल या शृंगारकाल के अधिकतर कवियों ने किया।

पश्चिमी अपभ्रंश तो नागर हो गया, पर पूर्वी अपभ्रंश ग्राम्य ही बना रहा, उसकी प्रवृत्ति ही वैसी थी। विद्यापति ठाकुर ने कीर्तिलता में जिस प्रकार की भाषा का व्यवहार किया है उसमें पश्चिमी प्रवृत्ति आई तो है पर पूर्वी अर्थात् ठेठ प्रवृत्ति बराबर मिलती है। अपभ्रंश का वाङ्मय अधिक सामने आने पर इसका विस्तृत विवेचन करने का अवसर अधिकाधिक मिलता जाएगा।

अपभ्रंश का पूरा समय दो भागों में विभाजित किया जा सकता है। उसका एक तो पूर्वकालिक रूप है और दूसरा उत्तरकालिक। पूर्वकालिक

अपभ्रंश में सर्वसामान्य प्रवृत्तियाँ ही अधिक दिखाई देती हैं, पर उत्तर-कालिक अपभ्रंश में प्रांतीय रूपों का अधिकाधिक ग्रहण होने लगा। अर्थात् प्रांतीय प्रवृत्ति स्फुट होने पर वह देशी भाषाओं के अधिक निकट आ गया। विद्यापति ने अपनी 'कीर्तिलता' में जिस भाषा का व्यवहार किया है वह प्रांतीय या पूर्वी रूप लिए हुए है। कुछ विद्वान् अपभ्रंश के इस उत्तरकालिक रूप को 'अवहट्ट' कहने के पक्ष में हैं अर्थात् उनके मत से अपभ्रंश और देशी भाषा के बीच एक सोपान 'अवहट्ट' का है। इसमें संदेह नहीं कि देशी भाषाओं का उदय होने के पूर्व अपभ्रंश का ऐसा रूप अवश्य आया होगा जो उनके निकट था, अतः पुराने या पूर्वकालिक अपभ्रंश को अपभ्रंश और उत्तरकालिक को 'अवहट्ट' कहा जाय तो कोई हानि नहीं। पूर्वकालिक अपभ्रंश के लिए यह नाम कहीं प्रयुक्त मिला भी नहीं है पर उत्तरकालिक अपभ्रंश के लिए यह नाम आया है। 'प्राकृतपैंगलम्' की टीका में इस नाम का व्यवहार बार-बार हुआ है। यह 'अवहट्ट' (तत्सम 'अपभ्रष्ट') देशी भाषा के निकट है या यों कहिए कि देशी भाषा की मिलावट से साहित्यारूढ़ पारंपरिक अपभ्रंश ही 'अवहट्ट' है। विद्यापति ने 'अवहट्ट' को मीठी देशी भाषा के निकट लाने का प्रयास किया है। उन्होंने जो यह लिखा है कि

सक्कइ बानी बहुअ न भावइ,
पाउअ रस को मम्म न जानइ।

देसिल बअना सब जन मिट्ठा,
तें तैसन जंपओ अवहट्ठा।

इसमें 'तैसन' शब्द विशेष ध्यान देने योग्य है। 'देसिल बअना' और 'अवहट्ठा' को एक ही मानने के लिए 'तैसन' का अर्थ 'वही' किया जाता है, पर 'तैसन' का प्रचलित और स्पष्ट अर्थ 'वैसा ही' है। साहित्यारूढ़ अपभ्रंश देशी भाषा से दूर हो गया था, विद्यापति ने उसे देशी भाषा के मीठेपन से युक्त किया। खरा अपभ्रंश तो पश्चिमी या नागर था, पर इन्होंने उसमें देशी वचन की मिठाई, जनता की बोली या ठेठ रूप मिलाकर उसे दूसरा रूप देकर सामने रखा। यह इस लिए भी विचारणीय है कि उनके समय में अपभ्रंश या अवहट्ट बोल-चाल में नहीं था। बोल-चाल की भाषा में तो उन्होंने पृथक् ही रचना की है। उनके गीतों और कीर्तिलता की भाषा में स्पष्ट अंतर है—भारी अंतर है। एक पारंपरिक साहित्यिक भाषा है जिसमें साहित्य लिखने का बहुत दिनों से प्रचलन था। दूसरी जनभाषा है, जिसमें जनता के घरेलू गीत तो रहे होंगे पर साहित्य नहीं था। विद्यापति ने देशी भाषा में साहित्य का प्रवेश कर दिया। जनता के घरेलू सुख-दुख की बातों के स्थान पर देशी भाषा में साहित्य के देवता राधाकृष्ण को स्थापित कर दिया और उत्तरवर्ती हिंदी-साहित्य के लिए बहुत बड़ा मार्ग खोल गए।

प्रस्तुत पुस्तक में अपभ्रंश-अवहट्ट-संबंधी ऐतिहासिक विवरण और उसका व्याकरण, कोश आदि सभी संक्षेप में संगृहीत है। जैन होने

के कारण लेखक को जैन अपभ्रंश के अनेक ग्रंथों के आलोड़न-मनन-चिंतन का अवसर सहज प्राप्त रहा है। इसी से उसने प्रामाणिक और व्यवस्थित विचार रखे हैं। पुस्तक अच्छी है और जिज्ञासुओं को अपभ्रंश समझने में पर्याप्त सहायता करेगी ऐसा विश्वास है।

वाणी-वितान
ब्रह्मनाल, काशी।
गुरु पूर्णिमा, २००७

विश्वनाथप्रसाद मिश्र,
(प्राध्यापक काशी विश्वविद्यालय)

विषय सूची

क्रमाङ्क	विषय	पृष्ठाङ्क
८३	पुरानी हिन्दी (प्रबंध चिंतामणि)	२०२
८४	पहला भाग	२०८
८५	सोमप्रभ और सिद्धपाल का कविता	२१३
८६	आचार्य हेमचंद	२१६
८७	दूसरा भाग	२१७

आर्यभाषा की परम्परा

आर्यों के मूल निवास के सम्बन्ध में विद्वानों में बहुत मतभेद है। आर्य चाहे बाहर से आए हों और चाहें यहीं के निवासी रहे हों, उनकी सभ्यता का प्रथम प्रसार उत्तर पच्छिम प्रदेश में ही हुआ वहीं से वे विविध भारतीय जनपदों में फैले। आर्य सभ्यता के शैशवकाल में समूचे भारत में दो संस्कृतियां फैली हुई थी, उत्तर पच्छिम और पच्छिम प्रदेश में द्रविड लोग थे जिनकी सभ्यता नागरिक सभ्यता थी, मध्यदेश और पूर्वी भारत में आग्नेय लोग थे—इनकी संस्कृति ग्राम्य या जनपद संस्कृति थी। आर्यों का प्रथम निवास उदीच्य में था, वे अनेक दलों में विभाजित थे और उनकी अपनी भाषा थी जिसमें वे प्रार्थना और गीत रचते, ऋग्वेद इसी भाषा में है, इसे भारतीय आर्यभाषा का सबसे प्राचीनतम रूप कहा जा सकता है। आर्यों के प्रथम उपनिवेश के बाद—पंजाब से परसिया तक भाषागत एकता अवश्य रही होगी। आरम्भ में र और ल के आधार पर प्राचीन आर्यभाषा से कई विभाषाएं बनीं। पच्छिमी भाषाओं में ल नहीं था, 'र' था, और पूर्वी भाषाओं में ल ही का उपयोग होता था, बाद में यह प्रवृत्ति उत्तर प्रदेश के पूर्वी जिलों तक आई। आर्यों के द्वितीय उत्थान काल में यह पूर्वी प्राकृत कहलाई। वैदिक आर्यों के अतिरिक्त, अनार्य हाथों ने भी कुछ ऋचाओं का निर्माण किया, अभी तक सारा साहित्य कंठस्थ ही

किया जाता था, महाभारत युद्ध के पूर्व वेदव्यास ने उसका विभाजन किया, डाक्टर सुनीत कुमार चटर्जी के अनुसार १००० वर्ष ईसा पूर्व वेद पूर्णता को पहुँच गए।

आर्यों की भाषा बदल रही थी, निरन्तर प्रगति, अनार्यों द्वारा आर्यभाषा का अभ्यास, आर्य अनार्य मिश्रण और बोलचाल की भाषा का स्वाभाविक विकास, इस परिवर्तन के मुख्य कारण थे। भगवान् महावीर और बुद्ध के समय आर्यों का विस्तार विदेह तक हो चुका था, १००० से ६०० वर्ष ईसा पूर्व का यह समय, ब्राह्मण रचनाकाल कहा जाता है, इसमें आर्य भाषा में अनेक परिवर्तन हुए। वैदिक भाषा लिखितसाहित्य का माध्यम बन जाने से रूढ़ हो रही थी, और बोलचाल की भाषा के इस समय तीन रूप थे (१) उदीच्य (Northwestern) (२) मध्यदेशी (Mid land) (३) और प्राच्य (Eastern) इस प्रकार अफगानिस्तान से बंगाल तक आर्यभाषा का प्रचार क्षेत्र समझना चाहिए, उदीच्य भाषा के स्वरूप का प्रतिनिधित्व आधुनिक उत्तर पश्चिम सीमांत और उत्तरी पंजाब की भाषाएं करतीं हैं। कौशीतिकी ब्राह्मण में अंकित है कि लोग उदीच्यों के पास भाषा सीखने जाते थे, प्राच्य (पूर्व) में व्रात्यों की अपनी भाषा थी, आर्यों के संयुक्त वर्ण और अन्य ध्वनियां उनके लिए क्लिष्ट जान पड़ती थीं, मध्यदेश की भाषा इन दोनों के बीच में थी, भाष्य में एक ब्राह्मण कहानी का उल्लेख है कि किस प्रकार असुर लोग अरयः का अलयः उच्चारण करके पराजित हुए [तेऽसुरा हेलयः हेलय इति कुर्वन्तः परावभूवुः] प्राच्य प्राकृत में व्यञ्जन लोप, र को ल और र के परवर्ती दन्त्य को मूर्धन्य करने की प्रवृत्ति थी जैसे [कृत=कट, अर्थ =अठ]। आर्यों के प्रभाव के कारण अनार्य भाषाएं आर्यभाषा

के आसपास केन्द्रित होने लगीं, महावीर और बुद्ध के समय उदीच्य की भाषा वैदिक साहित्यिक भाषा के अतिनिकट थी जब की प्राच्य की भाषा में काफी अन्तर पड़ गया था, छन्दस् भाषा (वैदिक भाषा) का अध्ययन ब्राह्मणों द्वारा साहित्यिकभाषा के रूप में जारी था। प्राच्य और उदीच्य के मेल से मध्यदेशीय भाषा का उदय हुआ, जो ऋचाओं की व्याख्या के लिए स्वीकृत गद्य की भाषा थी, प्राच्य भाषा-भाषी के लिए छन्दस् और ब्राह्मणगद्य की भाषा कठिन जान पड़ती थी, और इसी प्रकार उदीच्य लोग प्राच्य की भाषा को क्लिष्ट समझते थे, इस असुविधा को दूर करने के लिए—भगवान बुद्ध के दो शिष्यों ने उनके उपदेशों का अनुवाद वैदिक भाषा में करने की अनुमति मांगी पर उन्होंने उनको स्वीकृति नहा दी, महावीर और बुद्ध ने बोल चाल की भाषा में ही अपने उपदेश किए। इससे बोलचाल की भाषाओं की खूब उन्नति हुई, और वे भी साहित्य प्रणयन के लिए स्वीकृत हुई, एक प्रकार से छंदस् और संस्कृत के विरुद्ध आन्दोलन चल पड़ा क्योंकि वे वैदिक भाषा पर अवलम्बित थीं, इस प्रकार विचारसंघर्ष ने भाषा संघर्ष को जन्म दिया, दूसरे उपनिषदें भी उच्च और शिक्षित वर्ग के लोगों के लिए थीं। ब्राह्मणों की भाषा पर वाह्य प्रभाव बड़ी तेजी से पड़ रहा था, ठीक इसी समय पाणिनि नाम के वैयाकरण शलातुर में से उत्पन्न हुए, इस प्रदेशमें छंदस् भाषा की एक विभाषा प्रचलित थी ब्राह्मण गद्य की भाषा का मुख्य केन्द्र गंगा जमना का द्वाब और दक्खिन पूर्वी पंजाब था यही वह मध्य देश था जिसकी भाषा विकृत नहीं हुई थी, इस प्रकार वेदों की राजभाषा और ब्राह्मण गद्य के आधार पर तत्कालीन विभाषाओं का विचार करके पाणिनि ने संशोधित साहित्यिक भाषा गढ़ी, यह पांचवीं ई०पू० की बात है,पाणिनि ने केवल उसका रूप ही स्थिर किया,

उनके दो सौ वर्ष पूर्व इसका उद्गम हो चुका था। यह भाषा विश्व सभ्यता और संस्कृति की बहुत बड़ी भाषा सिद्ध हुई, आरंभ में जैन और बौद्धों ने इसका विरोध किया, पर बाद में उन्होंने भी इसे अपना लिया, आर्य लोग इसे उत्तर-पच्छिम में अफगानिस्तान मध्य एशिया तिब्बत, और चीन, वहाँ से कोरिया और जापान तक, तथा दक्खिन में लंका बर्मा और हिन्द चीन लेगए। संस्कृत वस्तुतः किसी प्रदेश की भाषा नहीं थी केवल ई०पू० सदियों में पंजाब और मध्यदेश की विभाषाओं ने उसे नामरूप दिया था, फिर भी यह पूर्ण जीवित भाषा रही, संस्कृत समन्वय की भाषा थी उसके माध्यम से अनार्य आख्यान कथाएं और तत्त्वज्ञान को आर्यरंग में रग दिया गया। समन्वय की आकांक्षा अनार्यों की बहु भाषिता और आर्यों की राजनैतिक प्रबलता और दोनों की उंची बौद्धिक उड़ानों ने उसे उत्तरापथ की भाषा बना दिया। आर्य सभ्यता का दक्खिन में प्रवेश अगस्त्य ऋषि ने कराया। संस्कृत ने एक प्रकार से मध्यम मार्ग ग्रहण किया, प्राचीन रूपों की सुरक्षा और मध्य आर्य भाषाओं के शब्दों और रूपों को लेकर वह आगे बढ़ी, तीन हजार वर्षों तक यह सभ्य संसार के आदान प्रदान और उच्च तत्त्वचितन का माध्यम बनी रही, एक समय था जब वैदिक बौद्ध और जैन तत्त्व चिंतन का एकमात्र माध्यम संस्कृत थी। ध्वनि और शब्दरूपों का उसने बड़ा ध्यान रखा, व्यवहार में पुराने वैदिक शब्द छोड़ दिए गए, पाणिनि ने अपने अष्टाध्यायी में संस्कृत के अतिरिक्त अनेक विभाषाओं का उल्लेख किया* है, प्राचां से उनका अभिप्राय पूर्व और उदीच्यां से उत्तर था। उन्होंने सामान्यभाषा के नियम लिखकर विशेष भाषाओं के भी नियमों का जगह-जगह उल्लेख

---

* "जराया जरसन्यतरस्याम्" (भाषायां)। "भाषायां सदवसुश्रुवः"

किया है, संस्कृत शब्द का प्रयोग उन्होंने पकाने के अर्थ में किया है, भाषा के अर्थ में इस शब्द का प्रयोग उन्होंने नहीं किया, छंदस् से उनका अभिप्राय वैदिक भाषा से था, अपनी भाषा को उन्होंने भाषा कहा है, पाणिनि द्वारा भाषा का आदर्श स्थापित कर देने पर भी उसका स्वरूप स्थिर नहीं रह सका और स्वयं पाणिनि जैसे संसार के सर्वश्रेष्ठ वैयाकरण भी भाषा का स्वरूप नहीं बाँध सके उन्हें भी 'पृषोदरादिषु यथोपदिष्टम्' कहकर आकृति-गण का सहारा लेना पड़ा। ध्यान से देखने पर यह स्पष्ट हो जायगा कि ब्राह्मण-गद्य में मुहावरों और क्रिया की बहुलता थी। आगे कृदन्त रूपों का प्रयोग होने लगा, इसके अतिरिक्त भाषा-लेखक जब संस्कृत में लिखते तो भाषापन भी उसमें पहुँचा देते, जैन संस्कृत के अध्ययन से इसपर काफी प्रकाश पड़ता है, यह तो हुई प्राचीन आर्य भाषा की चर्चा, जिसमें कि वैदिक और लौकिक संस्कृत की गणना की जाती है।

मध्य आर्यभाषा में पाली प्राकृत और अपभ्रंश की गणना होती है, इसके तीन भाग किए जा सकते हैं, आदि—मध्यकाल में पाली और अशोक की प्राकृत, मध्य में जैन प्राकृतें महाराष्ट्री और साहित्यिक प्राकृतें और अंतिमकाल में अपभ्रंश। बुद्ध के कुछ समय पूर्व मध्य आर्य भाषा की स्थिति स्थापित हो चुकी थी, उदीच्य की भाषा से इनमें सबसे पहले ध्वनिसम्बन्धी भेद ही लक्षित होता है र को ल मूर्धन्यभाव और सावर्ण्यभाव (Assimilaton) की प्रवृत्ति इसी भेद को सूचित करती है, उत्तर-पश्चिम और मध्यदेश में वैदिक ध्वनि समूह सुरक्षित था, पर रूप-विचार (Morphology) की दृष्टि से, वे भी परिवर्तित हो रही थीं। 'कृतमस्ति' जैसे कृदन्त प्रयोग इसी परिवर्तन को

सूचित करते हैं। ध्वनि के सम्बन्ध में उदीच्य की भाषाएँ सदैव कट्टर रही हैं, और यह बात उनके विषय में आज भी सत्य है, पूर्व में ध्वनिविकार शीघ्र हुआ, पर लहंदा और पंजाबी में संयुक्त व्यञ्जन, उनके पूर्व ह्रस्व का दीर्घ उच्चारण और अनुनासिकत्व अभी भी मध्य आर्यभाषाकाल का है। मध्यकालीन प्राकृतों में स्वरीभवन और आक्षरिक सम्पत्ति अधिक बढ़ी, बलात्मक स्वरसंचार का प्रश्न इसी से सम्बन्ध रखता है। डाक्टर चटर्जी की कल्पना है कि अघोष वर्णों का सघोष (क=ग) फिर सघोष का संघर्षी (ग=ग़) और तब लोप हुआ। मध्य आर्यभाषा काल में इस आधार पर प्राकृतों के आदि मध्य और अंत ये तीन भेद किए जा सकते हैं। Aspirant का उच्चारण दो सदी ई० पू० से दो सदी ई० पश्चात् रहा, ब्राह्मीवर्णमाला होने से लिखने में यह भेद व्यक्त नहीं हुआ, साहित्यिक शौरसेनीप्राकृत और मागधी में मध्यग क ख त और थ के स्थान में ग घ द और ध करने की प्रवृत्ति थी, पर महाराष्ट्री प्राकृत में मध्यग व्यञ्जनों का लोप होने लगा, यह शौरसेनी का ही उत्तर वर्ती विकास है। महाराष्ट्रप्रदेश की भाषा से उसका कोई सम्बन्ध नहीं। डाक्टर घोष के अनुसार महाराष्ट्रीप्राकृत, शौरसेनीप्राकृत का दक्खिनी विकसित रूप है। इसी प्रकार पाली वस्तुतः मध्यदेश की भाषा थी इसे सिंहली और मागधी भी कहते हैं, पाली में कई बोलियों के उदाहरण हैं, यह उज्जैन से लेकर शूरसेन प्रदेश की भाषा थी, र के अस्तित्व से वह पछाहीं सिद्ध होती है न कि पूर्वी। अशोक के समय अशोकीप्राकृत राज्यभाषा बनी, पर थोड़े समय बाद ही, उसका स्थान शौरसेनी प्राकृत ने ले लिया, महाराष्ट्री प्राकृत से इसका शैलीगत भेद है, कविता की भाषा सदैव यही प्राकृत रही।

भगवान् महवीर ने अपने उपदेश अर्धमागधी में किए, यह पूर्वी उत्तरप्रदेश और बिहार की तत्कालीन लोक भाषा थी, बुद्ध और महावीर की प्रेरणा से वह साहित्य का माध्यम बनी, अशोकीप्राकृत के नाम से यही राजभाषा भी बनी, बुद्ध के प्रवचनों का संकलन पहले गाथा में और बाद में पाली में हुआ जो मध्य देश की थी, बौद्धों के थेरीवादस्कूल के समय यही मुख्य भाषा थी। जैनों के अंगग्रंथों में अर्धमागधी का जो रूप है वह बादकी भाषा-स्थिति को सूचित करता है। खारवेल के शिलालेखों की भाषा में पाली और अर्धमागधी के उत्तर-वर्ती विकास का मिलता-जुलता रूप है। यह कहा जा चुका है कि अशोक के समय मध्यदेशीय भाषाओं को स्थान नहीं दिया गया, पर उसके बाद शीघ्र ही शौरसेनी प्राकृत ने अपना सिक्का जमा लिया इसका मूल केन्द्र ब्रजमंडल था, संस्कृत नाटकों में संस्कृत के बाद इसीका नम्बर आता है, महाराष्ट्री इसीके बाद का विकास है, एक तरह से उसे अपभ्रंश और शौरसेनी प्राकृत के बीच की कड़ी समझना चाहिए। मध्यदेश भारत का हृदय है, अपभ्रंश का प्रथम परिचय ३ सदी ई० से मिलने लगता है, पर वह साहित्यारूढ़ ६ वीं सदी में हो सकी। १२ वीं तक उसका समृद्धि-युग रहा, इस काल में भारतीय काव्य तीन धाराओं में प्रवाहित था। संस्कृत प्राकृत और अपभ्रंश। पर इस काल में अपभ्रंश अधिक व्यापक और जीवित भाषा थी। संस्कृत और प्राकृतों की अपेक्षा लोकजीवन का उसमें अधिक मिश्रण था, इसलिए तत्कालीन सामाजिकजीवन को समझने के लिए अपभ्रंश साहित्य का आलोड़न अत्यन्त आवश्यक है। अपभ्रंश के बाद की स्थिति अवहट्ट है, इस प्रकार भाषाविकास की

दृष्टि से अपभ्रंश भारतीय परिवार की आर्य ईरानी शाखा में भारतीय आर्य परिवार की केन्द्रीय भाषा थी, आदिमध्ययुग के जातीय-जीवन भाषा और साहित्यिक प्रवृत्तियों की ज्ञातव्य वस्तुओं का अक्षय कोष उसी के साहित्य में हैं। यह मध्ययुगीन प्राकृतों की अंतिम कड़ी है, उसके बाद आधुनिक आर्यभाषाओं का विकास हुआ। नीचे अपभ्रंश के विषय में विस्तृत विवेचन किया गया है।

अपभ्रंश शब्द

अपभ्रंश शब्द का सर्वप्रथम उल्लेख पतञ्जलि के भाष्य में मिलता है। वह ईसा पूर्व दूसरी सदी में पुष्यमित्र शुंग के राजपुरोहित थे, वह लिखते हैं* शब्द थोड़े हैं अपशब्द बहुत हैं, एक ही शब्द के अनेक अपभ्रंश हैं, उदाहरण के लिए एक ही गौ शब्द के 'गावी गौणी गोता गोपोतलिका इत्यादि अपभ्रंश शब्द देखे जाते हैं। इस प्रकार भाष्यकार की दृष्टि में छंदस् और भाषा (संस्कृत) के शब्द ही साधु शब्द हैं शेष शब्द अपशब्द हैं। इसलिए अपभ्रंश का अर्थ हुआ लौकिक और वैदिक शब्दों से भिन्न शब्द। विभ्रष्ट (Corrupt) के अर्थ में यह शब्द उन्हों ने ग्रहण नहीं किया। क्योंकि ये शब्द तत्कालीन कई लोक भाषाओं में प्रचलित थे। भाषा-विज्ञान के अनुसार 'गावी' किसी प्रकार गौ का विकार हो भी सकता है, पर 'गोपोतलिका' का 'गौ' से विकास कभी नहीं सिद्ध किया जा सकता। भाष्यकार के समय चारों ओर प्रकृतों का पूरा-पूरा प्रचार था, बंगला में गावी और सिंधी में गौणी शब्द अभी भी प्रचलित

---

* अल्पीयांसः शब्दाः भूयांसोऽपशब्दाः एकैकस्य शब्दस्य बहवोऽपभ्रंशा। तद्यथा एकैस्य गोशब्दस्य गावीगौणीगोतागोपोतलिकाइत्येवमादया शब्दाः।

हैं। जैन आगम ग्रन्थों में पतञ्जलि के अपशब्द प्रचुर मात्रा में पाए जाते हैं, इसलिए उनके अपशब्द का अर्थ हुआ—संस्कृत से भिन्न, वे शब्द, जो अन्य लोक भाषाओं में प्रचलित हैं, 'एकैक शब्दस्य बहवो अपभ्रंशाः' से भी यही ध्वनित होता है कि छंदस् और संस्कृत में प्रयुक्त एक शब्द के ध्वनि विकार से अनेक शब्द नहीं बने किन्तु अनेक भाषाओं में स्वतंत्र प्रयुक्त होने वाले शब्द।

इसके बाद ईसा की तीसरी सदी में अपभ्रंश शब्द स्वतंत्र भाषा के अर्थ में व्यवहृत हुआ। भरत मुनि ने अपने नाट्य शास्त्र में संस्कृत के विकृत रूप को ही प्राकृत बताया है, उन्होंने तीन प्रकार के शब्द स्वीकार किए है, तत्सम, तद्भव और देशी। उनका कथन है कि लोक के प्रयोग में ऐसी अनेक जातिभाषाएँ आती हैं, जो म्लेच्छ शब्दों से मिलकर भारतवर्ष में बोली जाती हैं, इसलिए नाटक में संस्कृत के अतिरिक्त शौरसेनी प्राकृत और देशीभाषा का भी यथेच्छ प्रयोग करना चाहिए। देवभाषा संस्कृत के अतिरिक्त भाषाएँ और देशी भाषाएं भी हैं, भाषाएँ सात हैं* मागधी, आवन्ती, प्राच्या, अर्धमागधी, वाल्हीका और दाक्षिणात्या।† शबर, आभीर और द्रविण भाषा को उन्होंने देशी कहा है। इनका उच्चारण हीन हैं, विभ्रष्ट से उनका अभिप्राय विभाषा से है, यहाँ हमें आभीरी भाषा से प्रयोजन है। भरत मुनि ने इसे उकारबहुला कहा है, और उन्होंने जो उदाहरण दिया है वह भी इसकी पुष्टि करता है 'मोरिल्लउ नच्चंतउ'। यह

---

* "मागध्यवन्तिजा प्राच्या सूरसैन्यर्धमागधी, वाह्लिका दाक्षिणात्या च सप्तभाषा प्रकीर्तिता"।

† "त्रिविधं तच्च विज्ञेयं नाट्ययोगे समासतः, समानशब्दै र्विभ्रष्टं देशी मथाऽपिवा"।

उकार बहुला प्रवृत्ति अपभ्रंश की है। हमें स्मरण रखना चाहिए कि प्राकृतों का साहित्य में प्रयोग बुद्ध और महावीर के समय प्रारंभ हो गया था, और पतञ्जलि के समय उनका पर्याप्त आदर साहित्यिक वाणी के रूप में हो रहा था। प्राकृतों के बढ़ते हुए प्रभाव को देखकर भाष्यकार ने लिखा है कि यदि संस्कृत के प्रयोग में कोई भाषाविषयक शंका हो तो इस आर्य निवास में रहनेवाले कुम्भीधान्य और अलोलुप ब्राह्मणों से उसका समाधान कर लेना चाहिए। आर्य-निवास से उनका प्रयोजन मध्यदेश से था। यहाँ संस्कृत ने नाम रूप ग्रहण किया था, भरत मुनि का समय पतञ्जलि से ५०० वर्ष बाद बैठता है, अत. प्राकृतों का भाषा के नाते साहित्यरूढ़ होना और शबरी आभीरी आदि बोलियों का बोल-चाल का ,माध्यम बनना स्वाभाविक था, इन भाषाओं में संस्कृत और प्राकृत के शब्द बहुलता से आते थे। इस प्रकार इस काल में अपभ्रंश शब्द का प्रयोग विभाषा के रूप में तो मिलता है, परन्तु उसकी साहित्यिकता का उल्लेख नहीं मिलता। आगे चलकर संस्कृत के विकृत शब्दों के अर्थ में अपभ्रंश शब्द चल पड़ा—जैसे स्नेह का नेह सनेह इत्यादि। इस प्रकार अपभ्रंश के तीन अर्थ हुए (१) संस्कृत से भिन्न भाषाओं के शब्द (२) आभीरी भाषा (३) और संस्कृत से विकसित और विकृत शब्द।

विकास

अपभ्रंश के विकाश सूत्र के क्रम का पता दो प्रकार से चलता है, एक तो साहित्य-मीमांसकों की आलोचना से और दूसरे उसके उपलब्ध साहित्य से।

भरत मुनि के उल्लेख से भाषारूप में अपभ्रंश का अस्तित्व प्रमाणित है। उसके साथ शबरी आदि भाषाओं का भी उल्लेख

है। परन्तु आभीरों के राजानीतिक अभ्युदय के कारण आभीरी ही देश भाषा बन सकी।

भरत के बाद वलभी* के राजा धरसेन के शिलालेख से ज्ञात होता है कि छठवीं सदी में संस्कृत और प्राकृत के साथ अपभ्रंश में भी साहित्य रचना होने लगी थी, उसने इसका गर्व के साथ उल्लेख किया है। छठवीं सदी में भामह† ने काव्य का लक्षण करके शैली और भाषा के आधार पर उसका विभाजन किया है। 'शैली के अनुसार दृश्य-काव्य और श्रव्य-काव्य भेद होंगे और भाषा के आधार पर संस्कृत प्राकृत और अपभ्रंश काव्य'। इससे अपभ्रंश के स्वरूप पर खास प्रकाश नहीं पड़ता। इस दृष्टि से आचार्य दण्डी का कथन बहुत महत्त्वपूर्ण है, वह अपने काव्यादर्श में लिखते हैं कि काव्य‡ में आभीरों आदि की भाषा अपभ्रंश कहलाती है, और शास्त्र में संस्कृत से भिन्न समस्त भाषाएं अपभ्रंश कही जाती हैं। काव्य से अभिप्राय यहाँ नाटक से है, और शास्त्र का अर्थ है व्याकरण शास्त्र। आभीरों के साथ, आदिशब्द, गुर्जर आदि जातियों की ओर संकेत करने के लिए है। उन्होंने एक तरह से अपने कथन द्वारा पतञ्जलि और भरत मुनि के मतों का समाहार कर दिया। और साथ ही यह भी सूचित कर दिया कि भरत मुनि की आभीरी ही काव्य में

---

* संस्कृत-प्राकृतापभ्रंशभाषात्रय प्रतिबद्धप्रबंधरचनानिपुण न्तः करणाः।

† शब्दार्थौ सहितौ काव्य गद्यं पद्यं च तद्विधा संस्कृतं प्राकृतं चान्य-दपभ्रंश इति त्रिधा।

‡ आभीरादि गिरः काव्येष्वपभ्रंश इति स्मृता। शास्त्रेषु संस्कृतादन्य दपभ्रंशतयोदितम्।

अपभ्रंश कहलाती है, जब हम व्याकरण शास्त्र की बात करते हैं तो अपभ्रंश का अर्थ होगा संस्कृत से भिन्न भाषाएँ। पतञ्जलि ने भी यही कहा था। पर काव्य के प्रसंग में आभीरी ही अपभ्रंश कहलाती है, अपभ्रंश उससे भिन्न भाषा नहीं है।

भाषाओं के आधार पर आचार्य दंडी ने काव्य के तीन भेद किये थे, पर ६ वीं सदी में रुद्रट* ने अपने 'काव्यालंकार' में छः भेद किए हैं। प्राकृत संस्कृत मागध पिशाच और शौरसेनी पांच भाषाकाव्य तो ये हुए, छठवां है अपभ्रंश काव्य। आगे वह कहता है कि देश † विशेष के कारण अपभ्रंश के अनेक भेद हैं, इससे अपभ्रंश काव्य की प्रसार भूमि का आभास मिलता है। ११ वीं सदी के मध्य में नामिसाधु ने रुद्रट के काव्यालंकार की टीका लिखते हुए प्राकृत शब्द का अर्थ लोक भाषा किया है।

प्राकृत वैयाकरणों ने चार प्राकृतों को मुख्य माना है महाराष्ट्री शौरसेनी मागधी और पैशाची।

अपभ्रंश के भी चार भेद मुख्य हैं। नागर उपनागर केकय और ब्राचड़। आचार्य हेमचन्द ने शौरसेनी अपभ्रंश का व्याकरण लिखा है। जैन विद्वान् नामिसाधु ने रुद्रट के 'षष्ठोऽत्र भूरि भेदः' और देश विशेषात्—की व्याख्या के अवसर पर जो विचार प्रकट किए हैं, उनसे कई महत्त्व के परिणाम निकलते हैं। उससे अपभ्रंश की विकास परम्परा का पूरा सूत्र मिल जाता है।

---

* प्राकृत संस्कृत मागध पिशाचभाषा शौर सेनी च।
षष्ठोऽत्र भूरिभेदो देश विशेषादप भ्रंशः॥

† तथा प्राकृतमेवापभ्रंशः सचान्यैः—
रुपनागराभीर ग्राम्यावभेदेन त्रिधोक्तः॥

उसने उपनागर ग्राम्य और आभीरी ये तीन भेद किए हैं। यदि हम अंत से शुरू करें तो 'आभीरी' उस समय का नाम है जब यह भाषा जातिविशेष (आभीरों) की बोली थी, और इसका देशभाषा के रूप में प्रयोग नहीं हुआ था, यद्यपि इसका प्राचीन साहित्य उपलब्ध नहीं है, तो भी इतना निश्चित है कि भरतमुनि की आभीरोक्ति और नमि साधु की आभीरी तत्त्वतः एक ही वस्तु है। आभीरों के ग्राम्यवासी और भारतीय संस्कृति में दीक्षित होने पर—आभीरी और प्राकृत के मेल से ग्राम्य भाषा का विकास हुआ, अधिक विकसित होने पर वह उपनागर कहलाई और जब आभीरों की राज्य सत्ता उन्नति के चरम शिखर पर थी तब अपभ्रंश के नाम से देश भाषा के पद पर अधिष्ठित हुई।

एक जगह भोज लिखते हैं कि गुर्जर अपने अपभ्रंश से संतुष्ट रहते हैं अन्य से नहीं, इससे गुर्जरों का अपभ्रंश से सम्बंध सिद्ध होता है। आगे चल कर—प्राकृतों की आधार-भूमि पर इन यायावरों की बोली का विकास हुआ। कुछ विद्वान् कृष्ण का सम्बन्ध आभीर जाति से जोड़ते हैं। यहाँ इसकी मीमांसा अप्राकृत है।

अपभ्रंश और देशी

वेदयुग से लेकर आज तक भाषा के द्विविध रूप रहे हैं। एक साहित्यरूप और दूसरा बोल चाल का। जिस समय पाणिनि ने संस्कृत का व्याकरण लिखा उस समय वह बोल चाल की भाषा थी इसी लिए उन्होंने उसे भाषा कहा, संस्कृत नाम बाद का है, जब संस्कृत साहित्यरूढ़ भाषा हुई तो प्राकृतें बोल चाल में प्रयुक्त होने लगीं, प्राकृतजनकी भाषा होने से वे प्राकृत ही थी, आगे चल कर संस्कृत और प्राकृत वैयाकरण उन शब्दों को

देशी कहने लगे जिनकी व्युत्पत्ति संस्कृत से सिद्ध नहीं होती थी, ये देशी बचन थे। प्राकृत काल में भरत मुनि ने आभीरी आदि भाषा को देशी कहा था आचार्य हेमचन्द्र ने संस्कृत से भिन्न व्युत्पत्ति शून्य प्रान्तीय शब्दों को देशी कहा है। देशी का वस्तुतः Speakinglanguage से तात्पर्य है। देशी से अनार्य का कोई सम्बन्ध नहीं। ६ वीं सदी से अपभ्रंश शब्द का ग्रहण प्रान्तीय भाषा के अर्थ में होने लगा। बाद के लेखक अपनी रचना को देशी कहते थे। १३ वीं सदी के महाराष्ट्र लेखक ने अपनी रचना को देशी कहा है। इस काल में अपभ्रंश साहित्य रूढ़ हो चुका था, इसीलिए महाकवि विद्यापति को कहना पड़ा—"संस्कृत* बहुतों को अच्छी नहीं लगती और प्राकृत रस के मर्म से अपरिचित है। देशी भाषा सबको मीठी लगती है, इसीलिए मैं उसी में रचना करता हूँ।

जो प्राकृत १४ वीं सदी में विद्यापति को रस हीन जान पड़ी उसी के विषय में कुछ समय पूर्व राजशेखर की यह गर्वोक्ति थी कि संस्कृत भाषा का बंध कठिन होता है, और प्राकृत का सुकुमार। संस्कृत और प्राकृत में उतना ही अन्तर है जितना पुरुष और महिला में। पर काल के प्रवाह में विद्यापति के देशी वचनों की मिठास आधुनिक भाषाओं ने छीन ली। भारत वर्ष में साहित्य रूढ़ भाषा का मोह सदैव रहा है, इस लिए लोकभाषा में कविता

* "सक्कइ बाणी बहु न भावइ
पाउअ रस को मम्म न जानइ
देसिल बअना सब जन मिट्ठा
ते तैसन जम्पओ अवहट्टा

करते समय कवियों को बड़े साहस से काम लेना पड़ा। महा-कवि तुलसी दास जी ने रामचरित मानस को भाषा-भनति कहा है। उनकी रचना भाषा की रचना है। खड़ी बोली के विकास काल में संस्कृत विद्वान् उसे भाखा कहते थे। अतः प्राकृत अपभ्रंश और भाषा के दो अर्थ हैं। पहला अर्थ है लोक भाषा और दूसरा है साहित्यिकभाषा। अपभ्रंश के भी दो रूप रहे होंगे। पर जब वह उत्तरोत्तर साहित्यरूढ़ होती गई तो यह स्वाभाविक था कि नई भाषाओं के लेखक अपनी रचना को देशी कहते।

अपभ्रश की प्रसारभूमि !

राजशेखर ने काव्य मीमांसा में—राजसभा का जो चित्र खींचा है उसमें अपभ्रंशभाषा के कवियों का भी उल्लेख है। उसके अनुसार समस्त मरुभू (मारवाड़) टक्क (पंजाब) और भादानक में शुद्ध अपभ्रंश काव्य का प्रचार था, और सुराष्ट्र (काठियावाड़) तथा त्रवण में अपभ्रंश मिश्रित संस्कृत का। राजसभा में अपभ्रंश कवियों के बैठने की जगह पच्छिम में थी। नामिसाधु ने मागधी में भी अपभ्रंश का उल्लेख किया है। इसके अतिरिक्त अपभ्रंश साहित्य व्यापक था। दोहाकोष के रचयिता कह्नप्पा वंग में हुए, प्रसिद्ध अपभ्रंश कवि पुष्पदंत मान्यखेट के थे, और सिद्ध सरोरुह कामरूप (आसाम) के। पच्छिमी केन्द्र का उल्लेख ऊपर किया जा चुका है। इस प्रकार गुजरात से आसाम और दक्खिन में मान्यखेट तक अपभ्रंश का प्रचार रहा। कम से कम तीन केन्द्रों में अपभ्रंश साहित्य का निर्माण हुआ। इनमें पश्चिमी केन्द्र में अधिक कवि हुए। नमिसाधु ने प्राकृत को ही अपभ्रंश कहा है, प्राकृत से उसका अभिप्राय बोल चाल की

भाषा से है। उसने यह भी कहा है कि अपभ्रंश* का लक्षण लोक से ज्ञातव्य है। कहीं कहीं यह मागधी में भी देख पड़ती है"। जब एक भाषा लोकभाषा के रूप में विस्तृत हो जाती है तब उसकी प्रकृति और प्रवृत्ति को लक्षण द्वारा समझना कठिन हो जाता है। प्रत्येक जीवित भाषा के बारे में यह सत्य है। इस प्रकार अपभ्रंश भाषा और साहित्य का पूर्ण विकास हो चुकने पर आचार्य हेम-चन्द्र ने लक्ष्य ग्रन्थों के आधार पर प्रतिमित अपभ्रंश भाषा (Stardardised Language) का व्याकरण लिखकर उसे स्थिर रूप दिया। राजशेखर, वाग्भट्ट, भोज, मार्कन्डेय, प्रभृति —साहित्याचार्यों ने अपभ्रंश पर जो कुछ लिखा है, वह उसके भेद प्रभेद साहित्य और विस्तार सीमा से अधिक सम्बन्ध रखता है। भाषा के विकास क्रम को समझने में उससे अधिक सहायता नहीं मिलती।

आभीर जाति और अपभ्रंश

ऊपर हम देख चुके हैं कि आभीर जाति से अपभ्रंश का सम्बन्ध अनिवार्य रूप से जोड़ा जाता है। यहाँ यह दृष्टव्य है कि भारतीय इतिहास से इसकी पुष्टि कहा तक होती है, जहां तक आभीरों का सम्बन्ध है वे यायावर थे। भरत और दंडी ने आभीरों का उल्लेख किया है। महाभारत में भी आभीरों का उल्लेख दो जगह मिलता है। एक तो राजसूय सभापर्व के अव-सर पर शूद्राभीर उपायन लेकर आए और दूसरे जब अर्जुन याद-वियों को लेकर द्वारका से लौट रहे थे तब रास्ते में लट्ठबाज आभीरों ने यादवियों को उनसे छीन लिया। अर्जुन के साहस

*"तस्यां च लक्षणं लोकादवसेयं। क्वचन्-मागध्यामपभ्रंशः दृश्यते"

पूर्ण जीवन में यही एक ऐसा प्रसंग है जब उसके विश्वजयी गांडीव ने उसकी सहायता नहीं की। ये लूटपाट मचाने वाले भी, आभीर थे। इस पर आचार्य केशवप्रसाद ने आभीरों के दो दलों की कल्पना की है। पहली बार जो आभीर आए वे आर्यों की चातुर्वर्ण्यव्यवस्था के अनुसार शूद्रश्रेणी में दीक्षित होकर उत्तर पच्छिम प्रदेश में बस गए। शूद्राभीर यही थे।

दूसरा दल बाद में आया, वह उद्धत और लुटेरा था। इसलिए भारतीय संस्कृति में अन्तर्भुक्त नहीं हुआ। आगे यवन आक्रमण काल में वे सब इस्लाम धर्म में दीक्षित हो गए। यह दूसरा दल आभीर कहलाया। स्व० डाक्टर जायसवाल, शूद्राभीर की जगह शूराभीर पाठ शुद्ध समझते हैं। पर भंडारकार इन्स्टीच्यूट से महाभारत का जो संस्करण निकला है उसमें भी शूद्राभीर पाठ है। शूराभीर पाठ किसी भी प्रति में उपलब्ध नहीं है। उत्तरभारत आज भी घोसी जाति पाई जाती है, गोपालन और वयन इसकी आजीविका के मुख्य साधन हैं। 'गंगायां घोषः' 'आयो' घोस बड़ो व्यापारी' आदि भी घोषों की प्रबलता के सूचक हैं। ये वस्तुतः आभीर थे और भारतीय ग्राम्य संस्कृति में दीक्षित हुए थे, इनका विस्तार गुजरात से मगध तक था। अवदानों में यद्यपि आभीरों की चर्चा है, पर उनकी बोली का उल्लेख उनमें नहीं मिलता, तो भी यह उनकी बोली थी इसमें संदेह नहीं, आगे चल कर प्राकृतों की आधार भूमि पर इसका विकास हुआ। आचार्य हेमचन्द्र की प्रतिमित अपभ्रंश में 'कटिरे' आदि शब्द ठेठ यायावरों से सम्बन्ध रखते हैं कुछ धातु और शब्द ठेठ अपभ्रंश के हैं, इनका अनुशासन संस्कृत और प्राकृतों के व्याकरणों द्वारा नितांत असंभव है, इलाहाबादवाले स्तम्भ पर समुद्रगुप्त की आभीर-विजय का

उल्लेख है, कुछ लोग युक्तप्रांत के अहीरों का सम्बन्ध आभीरों से जोड़ते हैं। आभीरों का प्रथम प्रवेश १५० ई० पूर्व० हुआ ? उनकी अपनी स्वतंत्र भाषा थी, आभीरों की तरह गुर्जर भी यायावर थे ? आचार्य दंडी ने 'आभीरादिगिरः' द्वारा इन्हीं की ओर संकेत किया है। उसके बाद दक्खिन केन्द्र का नम्बर आता है और तब पूर्वी केन्द्र का। यद्यपि केन्द्र बनाकर अपभ्रंश कवियों ने काव्य सृष्टि नहीं की, केवल अपभ्रंश साहित्य के प्रसार को समझने के लिए, यह विभाजन किया गया है ! प्रो० जयचन्द विद्यालंकार—आभीरों को मारवाड़ और राजपूताने का ही मूल निवासी मानते हैं, जो भी हो परन्तु इतना निर्विवाद है कि आभीरो आभीरों की बोली थी।

अपभ्रंश में अन्य प्राकृतों की विशेषताएं

यद्यपि आचार्य हेमचन्द ने शौरसेनी अपभ्रंश का ही व्याकरण लिखा है, तो भी उसमें सभी प्राकृतों के लक्षण उपलब्ध हैं। उसकी व्यापकता का यह भी एक प्रमाण है, शौरसेनी प्राकृत में मध्यग व्यञ्जन को कोमल (Soft) बनाने की प्रवृत्ति है। उसमें 'त' का 'द' हो जाता है। अपभ्रंश में* भी मध्यग क ख त थ प फ को क्रमशः ग घ द ध और ब भ हो जाते हैं। जैसे कथितु का कधिदु आदि। इसके ठीक विपरीत महाराष्ट्री† प्राकृत में मध्यग क ग च ज त द प य व के लोप करने की प्रवृत्ति है अपभ्रंश में भी यह प्रवृत्ति है। जैसे—गत=गअ=गय, नूपुर=णेउर इत्यादि। महाराष्ट्री में आदि य का ज होता है, परन्तु

---

* अनादौ स्वरादसंयुक्तानां क ख त थ प फां ग घ द ध बभाः।

† क ग च ज त द पयवां प्रायो लोपः।

शौरसेनीवत् ८।४।४४६।

मागधी में आदि ज का य होता है। अपभ्रंश में भी यह प्रवृत्ति कहीं-कहीं लक्षित होती है, जैसे—याणीमः जानीमः, मागधी में व्रज का वुञ्ज होता है और अपभ्रंश में बुञ। यह मागधी प्रभाव है। चूलिका और पैशाची में र को ल कर देते हैं। अपभ्रंश में कई जगह र को ल करने की प्रवृत्ति है। जैसे चरण=चलन। इस प्रकार अपभ्रंश में प्रायः सभी प्राकृतों के लक्षण उपलब्ध होते हैं।

प्राकृत और अपभ्रंश

प्राकृतों के अनंतर, विकास होने पर भी अपनी विशेषताओं के कारण अपभ्रंश एक स्वतंत्र भाषा है। प्राकृतों की मूल प्रवृत्ति ओकारान्त (शौरसेनी) और एकारान्त (पूर्वीप्राकृत) है। जब कि अपभ्रंश की प्रवृत्ति उकारान्त है। इसीलिए उसे उकार बहुला कहा गया है। व्रज में शौरसेनी का ओकारान्त रूप अब भी सुरक्षित हैं, इसी प्रकार मागधी एकारान्तरूप आधुनिक पूर्वी बोलियों में है। अलीगढ़ के आस-पास घोड़ु आदि उकारान्त रूप अभी भी प्रचलित हैं अपभ्रंश में अकारान्त प्रवृत्ति के भी उदाहरण विरल नहीं है।

प्राकृतों से अपभ्रंश में रूपावली का भी भेद है, प्राकृतों में विभक्तियों के सात चिन्ह हैं, इतने अपभ्रंश में नहीं हैं। उदाहरण के लिए, पाली में अपादान के बहुवचन में देवात् और देवस्मात् रूप होते हैं पर अपभ्रंश में देवहो और देवहु। यह सर्वथा नये विभक्तिचिन्ह हैं। देवस्य से अपभ्रंश का देवस्स चाहे सिद्ध हो जाय पर देवस्सु नहीं सिद्ध किया जा सकता।

इसी प्रकार धातुरूप में भी विशेषता है। प्राकृतों में तिङन्त क्रिया के रूप हैं, अपभ्रंश के सामान्यभूत में भूतकृदन्त का प्रयोग होता है, चलन्त करन्त आदि कृदन्त के रूप हैं। पंजाबी का

आकारान्त रूप "तूँ कि थै जान्दा" अपभ्रंश का ऋणी है। वर्तमान काल में तिङन्त और कृदन्त दोनों रूप चलते हैं। हिन्दी में कृदन्त और सहायक क्रिया से काम चलाया जाता है। संस्कृत में आज्ञा और विधि के रूपों में भेद है, अपभ्रंश में यह बात नहीं। कर्मवाच्य में चलिज्जइ और चलिअइ रूप होते हैं। क्रिया को कीसु आदेश और संस्कृत के लज्जेयम् का लज्जेजं रूप अपभ्रंश की विशेषता है।

अव्यय—प्राकृत और अपभ्रंश के अव्यय में भिन्नता है, कटरि आदि आश्चर्य बोधक अव्यय अपभ्रंश की अपनी शब्द सम्पत्ति है। "स्पर्शादीनां छोल्लादय:" में बहुत सी ऐसे धातु है जिनका प्राकृत धातुओं से कोई सम्बन्ध नहीं।

साहित्यशैली की दृष्टि से भी प्राकृत और अपभ्रंश भिन्न भिन्न हैं, प्राकृत में राजशेखर ने संस्कृत छंदों* का प्रयोग किया है। फिर भी प्रत्येक भाषा का अपना औरस छंद हैं, संस्कृत का अनुष्टुभ, प्राकृत का माथा, और अपभ्रंश का दूहा। दुप्पई आदि—अपभ्रंश के नये छंद हैं। अन्त्यानुप्रास, पहले पहल अपभ्रंश में ही देख पड़ता है। संस्कृत महाकाव्य के सर्ग को आख्यान, प्राकृत काव्य के सर्ग को आश्वास, और अपभ्रंश काव्य के सर्ग को कुडवक कहते हैं। इस प्रकार अपनी विशेष-प्रकृति प्रवृत्ति, व्याकरण छंद और साहित्य शैली की दृष्टि से अपभ्रंश प्राकृत से पृथक् भाषा प्रमाणित होती है।

* अपभ्रंशनिबद्धेऽस्मिन् सर्गाः कुडवकाभिधा तथा अपभ्रंशयोग्यानि छंदांसि विविधान्यपि।

अपभ्रंश और अवहट्ट

कीर्तिलता की भाषा को विद्यापति ने अवहट्ट कहा है। बहुत से विद्वान् अवहट्ट और अपभ्रंश, को एक ही भाषा समझते हैं, उनके तर्क का मुख्य आधार विद्यापति का "ते तैसल जम्पओ—अवहट्टा" है, तैसल (तादृश) का अर्थ वे 'वही' करते हैं, और अवहट्ट को अपभ्रंश का ही विकृत रूप मानते हैं, परन्तु भाषा-विकास की दृष्टि से—अपभ्रंश और अवहट्ट भिन्न भाषाएं ठहरतीं हैं। जिस प्रकार, प्राकृत को आधार-भूमि पर खड़ी होकर भी अपभ्रंश अपनी प्रवृत्ति और रूपावली के कारण, अलग भाषा है; उसी प्रकार अपभ्रंश को भूमिका पर विकसित होकर भी, अवहट्ट अपनी विशेष प्रवृत्ति और रूपावली के कारण प्रथग् भाषा मानी जानी चाहिए। आचार्य हेमचन्द ने जिस अपभ्रंश भाषा का अनुशासन किया है, वह प्रतिमित भाषा थी उसके विरुद्ध जो प्रयोग किए जायँगे वे अपभ्रंश के व्याकरण से च्युत समझे जायँगे। यह स्पष्ट है कि अवहट्ट भाषा के लेखकों ने सर्वथा अपभ्रंश व्याकरण के नियमों का पालन नहीं किया। देशी शब्दों के अतिरिक्त प्रांतीय रूपों की उनकी भाषा में प्रचुरता है, उदाहरण के लिए विद्यापति की कोर्तिलता को ही लीजिए—उसमें भेल गेल, 'ओरका तुटउ भभकी भार' 'अमरावती के अवतार भा,—बिलकुल नये और विलक्षण प्रयोग हैं, बंगाल के चौरासी सिद्धों की भाषा अवहट्ट ही है, इस प्रकार अपभ्रंश के व्याकरणिक आधार पर—प्रांतीय शब्दों और रूपों के मेल से जो भाषा विकसित हुई—वह अवहट्ट थी, इसका काल १३ वीं सदी से १५ वीं सदी तक माना जाता है। तत्कालीन भारत के विभिन्न केन्द्रों में अवहट्ट साहित्य सृष्टि में हुई है, महा महोपाध्याय हरप्रसाद शास्त्री ने 'बौद्धगान ओ दोहा'

की भाषा को पुरानी बंगला कहा है। इसी प्रकार—महाराष्ट्र में ज्ञानेश्वरी की टीका जिस भाषा में हुई है उसमें अपभ्रंश और वहाँ की प्रांतीय भाषा के रूपों तथा शब्दों का मेल है, प्राचीन गुजराती 'निबंध-संग्रह' पच्छिमी भारत की अवहट्ट को सूचित करते हैं, राजस्थान में चंदवरदायी के—पृथ्वीराज रासे में ब्रज का मेल होना स्वाभाविक है। जिस प्रकार रोमन-साम्राज्य ध्वस्त होने के बाद वहाँ की भाषा लुप्त होने पर अनेक भाषाएं उठ खड़ी हुई, यही बात अपभ्रंश के लुप्त होने पर यहाँ हुई। इस प्रकार अवहट्ट अपभ्रंश से जुदी भाषा है, और वह आधुनिक भारतीयआर्य-भाषाओं तथा अपभ्रंश के बीच की कड़ी है। कम से कम ३०० वर्ष इसका विकास काल कूता गया है।

अपभ्रंश का व्याकरण

आ० वररुचि प्राकृतों के पहले वैयाकरण माने जाते हैं उन्होंने महाराष्ट्री पैशाची मागधी और शौरसेनी का ही व्याकरण लिखा है। अर्धमागधी का उल्लेख उनके प्राकृत प्रकाश में नहीं हुआ। जान पड़ता है कि उनके समय तक अर्धमागधी-साहित्य का उदय नहीं हुआ था। उनका आविर्भाव-काल ई० ५ वीं सदी है। चंद कवि पहले प्राकृत वैयाकरण थे जिन्होंने अपने प्राकृत लक्षण में अपभ्रंश का भी उल्लेख किया है। एक सूत्र में यह नियम बताया गया है कि अपभ्रंश में अधः स्थित रेफ का लोप नहीं होता। उनके बाद अन्य वैयाकरणों ने अपभ्रंश की चर्चा नहीं की। साहित्य-शास्त्र में अवश्य इसका छिट फुट उल्लेख हुआ। छटवीं सदी से अपभ्रंश साहित्य उत्तरोत्तर उन्नति पर था, आचार्य हेमचन्द्र ने १२ वीं सदी में इसका सर्वांगीण व्याकरण लिखा, उन्होंने जिस अप-भ्रंश का व्याकरण लिखा है वह प्रतिमित (Standardlanguage)

भाषा थी, फिर भी उसमें कई भाषाओं का मेल है। उदाहरण के लिए जैसे तृणु तिणु, सुखें और सुघें, कमलु और कवंलु, करंति और करहि। आज्ञा में करि और करे, भविष्य-काल में 'स' की जगह 'ह' तथा कर्मवाच्य में किज्जइ और करिअइ—ये दुहरेरूप दो भाषाओं के मेल को सूचित करते हैं।

आचार्य हेमचन्द ने धात्वादेश के सिवा १२० सूत्रों में नियमों उल्लेख किया है। उनके व्याकरण का मुख्य आधार शौरसेनी अपभ्रंश है उनके बाद त्रिविक्रम लक्ष्मीधर और सिंहराज ने भी अपभ्रंश की चर्चा को है, इनमें त्रिविक्रम (छठ वीं सदी) ने तो बात बात में हेमचन्द की नकल की है और इसलिए उसके व्याकरण में कोई मौलिकता नहीं। क्रम विपर्यय और सूत्र-विच्छेद द्वारा उसने एक प्रकार से हेमचन्द्र के व्याकरण को उतार दिया है।

दो चार सूत्रों के उदाहरण से यह स्पष्ट हो जायगा।

हेमचन्द	त्रिविक्रम
(-) शीघ्रादीनाँ वहिल्लादयः	(२) वहिल्लगाः शीघ्रादीनाम्
(।) स्वराणां स्वराः प्रायोऽपभ्रंशे	(!) प्रायोऽपभ्रंशेऽच्
(१) वा राधो लुक्	(?) रोलुक्

फिर भी उन्होंने दो बातें महत्त्वपूर्ण की हैं, एक तो अपभ्रंश उदाहरणों की संस्कृत छाया दी है और दूसरे अपने के ग्रंथ में बहुत से देशी शब्दों की सूची दी है; हेमचन्द की शब्दसूची से यह सूची बहुत बड़ी है। इन शब्दों के अध्ययन से अपभ्रंश की तत्कालीन स्थिति और प्रवृत्ति के विषय में अधिक जानकारी मिलने की पूरी सम्भावना है। कुछ शब्द तो पूर्ववर्ती भषाओं के लिए एकदम अपरिचित हैं। कहीं कहीं उन्होंने अनेकार्थ शब्द भी दिये हैं।

उसरी = उष्णजल, स्थली
केडु = फैलना, फेन, श्याल और दुर्बल,
ओहम् = नीवी और अवगुंठन
बमार = गुफा और संवरत
तोल, तोड्ड = पिशाच और शलभ
झिंखा = आतंक और त्रास
लुंबी = लता और स्तबक
अमार = नदी के बीच का टीला, कछुआ
करोड = कौआ, नारियल और बैल,
उण्ठल = बब्बरी
काटिल्ली = व्याकरण और भ्राष्ट
कारण्ड = सिंह और कौआ
* झाड़ = लतागहन
गोप्पी = सम्पत्ति और बाला

इन शब्दों को त्रिविक्रम ने देशी कहा है, देश विशेष में व्यवहार होने से उन्हें सिद्ध अथवा प्रसिद्ध समझना चाहिए।

हेमचंद और अपभ्रंश

संस्कृत का व्याकरण लिखकर जिस प्रकार पाणिनि अमर हो गए उसी प्रकार आचार्य हेमचंद अपभ्रंश का व्याकरण लिखकर। १२ वीं सदी में वह विलक्षण प्रतिभा लेकर उत्पन्न हुए। सं० ११४५ में उनका जन्म हुआ और शरीरांत १२२९ में। उनके तीन नाम बदले। जन्म का नाम चंगदेव, दीक्षा का नाम सोमचंद और सूरि होने पर हेमचंद। सिद्धराज जयसिंह के यहाँ

---

* झाडादयः शब्दाः देश्या देशविशेषव्यवहारादुपलभ्यमानाः सिद्धाः निष्पन्ना प्रसिद्धा वा वेदितव्याः।

उनका बड़ा मान था, राजा स्वयं शैव था, परन्तु वह सब धर्मों का आदर करता था। सिद्धराज के लिए हेमचंद ने अपना प्रसिद्ध व्याकरण ग्रंथ सिद्धहेमशब्दानुशासन लिखा। कुमार-पाल के समय हेमचंद का और भी मान बढ़ा। तत्कालीन साहित्यिक प्रवृत्तियों में गुरु-शिष्य की यह जोड़ी खूब प्रसिद्ध हुई। धार्मिक देशना के सिवा सबसे अधिक महत्त्वपूर्ण काम उन्होंने साहित्य के क्षेत्र में किया। काव्य साहित्य शास्त्र, न्याय कोष और व्याकरण सभी पर उनके ग्रंथ उपलब्ध हैं। अभिधान चिंतामणि देशीनाममाला छंदानुशासन काव्यानुशासन आदि उनके प्रसिद्ध ग्रंथ हैं। राज्य की ओर से उनकी सहायता के लिए ५०० लेखकों और राजताड़पत्र का प्रबन्ध था। भारतीय भाषा और साहित्य के इतिहास में पाणिनि के बाद शायद आचार्य हेमचंद ही हुए जिन्होंने पिछली भाषाओं के साथ अपने समय की भाषा का भी व्याकरण लिखा। पाणिनि की तरह यह भी लक्ष्यदृष्टिक थे, मनुष्य ही भाषा का निर्माण करता है, और वही उसे अमर बनाता है, आचार्य हेम-चन्द ने अपभ्रंश का व्याकरण लिखकर उसे अमर कर दिया, अपभ्रंश को समझने बूझने का एकमात्र आधार उनका व्याकरण ही है, हेमचन्द का दूसरा महत्त्वशाली काम यह है कि उन्होंने लक्ष्यों के उदाहरण में पूरे दोहे दिए हैं इस प्रकार लुप्त प्रायः बड़े भारी साहित्य के नमूने सुरक्षित रह गए। अपभ्रंश का स्वभाव समझने में इससे बड़ी सहायता मिलती है इससे यह भी अनुमान होता है कि अपभ्रंश का प्रचुर साहित्य रहा होगा जो या तो नष्ट हो गया या फिर पुराने भंडारों में अंधकार और दीमक की भेंट चढ़ रहा है। हेमचन्द का तीसरा महत्त्व यह है कि वे पाणिनि और भट्टोजिदीक्षित [illegible] के साथ साथ भट्टि भी थे। अपने

द्वयाश्रय काव्य में उन्होंने व्याकरण के अनेक उदाहरण दिए हैं। चौथा महत्त्व उनका यह है कि उन्हें तत्कालीन भारतीय साहित्यिक प्रवृत्तियों का पूरा ज्ञान था। इसका प्रमाण उनका देशी नाममाला नामक शब्द कोष है, इसमें प्राकृत शब्दों का संकलन अकारादि क्रम से हैं, इसके पहले इस प्रकार का क्रम देखने में नहीं आया, अक्षर क्रम के साथ द्वयक्षर त्र्यक्षर आदि का भी क्रम है। उन्होंने देशी को ही अनादि-प्रसिद्ध प्राकृत भाषाविशेष कहा है। हेमचंद ८४ वर्ष जीवित रहे। आत्म साधना और साहित्य सेवा ही उनके जीवन का व्रत रहा। बारहवीं सदी के वह सबसे अधिक तेज आँख वाले विद्वान् थे।

अपभ्रंश और लोकभाषा

स्काटलैंड के प्रसिद्ध विद्वान् डाक्टर कीथ ने अपने प्रसिद्ध ग्रंथ संस्कृत साहित्य के इतिहास में अपभ्रंश के विषय में जो विचार व्यक्त किए हैं उनमें दो बातें विशेष रूप से लक्ष्य करने की हैं, एक तो यह कि अपभ्रंश आधुनिक भाषाओं की जननी मानना सैद्धान्तिक कल्पना है, दूसरे यह कि वह काव्य भाषा थी, लोक से उसका कोई सम्बन्ध नहीं। आचार्य केशवप्रसाद ने डाक्टर कीथ के इस मन्तव्य का सप्रमाण खंडन किया है। डाक्टर कीथ का प्रथममत इसलिए ठीक नहीं कि अभी तक पूर्ण सामग्री का संकलन नहीं हो सका, पुरानी गुजराती का अपभ्रंश से विकास, डाक्टर कीथ को भी स्वीकार्य है, पर सभी भाषाओं के विषय में वह यह नहीं मानते। आचार्य केशव प्रसाद ने पूर्वी हिन्दी प्रदेश की एक बोली (बनारसी बोली) के बहुत से ऐसे उदाहरण दिए हैं कि जो आचार्य हेमचंद की प्रतिमित अपभ्रंश के शब्दों रुपों और मुहावरों से मिलते जुलते हैं। इससे

स्पष्ट है कि अपभ्रंश पच्छिमी प्रदेश ही नहीं, पूर्वी प्रदेश की भी भाषा रही होगी। उदाहरण के लिए देखिए।

अपभ्रंश	बनारसी
दिअहा जंति झडप्पडहिं	दिनवाँ जॉय झटपटय
पड़हि मनोरह पच्छि	पडय मनोरथ पाछ
वट्टइ	वाट्य
पुत्तें जाए कवण गुणु अवगुणु	पूत भइले कवन गुन
कवणु मुएण	अवन कवन मुएले
जा वप्पीकी भुहंडी	जेकर वापेक भुइयाँ
चम्पिज्जइ अवरेण	चांपल जाय अवरे।
ओ गोरी मुह निज्जअउ	अ गोरी मुँह जीतल
वद्दलि लुक्कु मियंकु	वदरे लुकल मयंक
अन्नु वि जो परिहविह सो	आनो जे घूसल से
किव भवंइ निसंकु	कैसे घूमय निसंक
एक कुडुल्ली पंचहि रुद्धि	एक कुडुल्ली पांच रुद्धी पाचों
तदपञ्चहं वि जुअं जुअ बुद्धि	क वी जुदे जुदा बुद्धि

(१) इस प्रकार भोजपुरी के जवन तवन कवन आदि रूप शुद्ध अपभ्रंश के है।

(२) वट्टइ रहइ—का उच्चारण वाट्य रह्य होता है।

(३) कर जेकर तेकर कन्ताक आदि शब्द अपभ्रंश के सम्बन्ध वाचक से विकसित हुए है।

(४) कयल मयल आदि रूप कृदन्त के हैं जो अल जोड़कर बनाए गए हैं यह मागधी की विशेषता है

(५) जो, को, सो. की जगह के, जे, से आदि अर्धमागधी का प्रभाव है।

. (६) खल्लडउ=खल्लड़, चम्पिज्जइ=चांपलजाय बद्धलि= बदरे, लुक्क=लुकल में जो समानता है, वह दोनों भाषाओं के तात्त्विक सम्बन्ध को सूचित करती है।

(७) र मागधी में ल होता है, कभी यह विशेषता पश्चिमी और मध्यदेशीय भाषा में भी रही है, अपभ्रंश में सभी प्राकृतों के लक्षण पाए जाते हैं।

(८) स्वार्थिक प्रत्यय डड,अ आदि का प्रभाव मुखड़ा दुखड़ा आदि में अभी भी देख पड़ता हैं।

(९) अपभ्रंश की मुख्य प्रकृति उकार बहुला है पूर्वी नामों में अभी भी यह उपलब्ध है—रामू ननकू आदि। इस प्रकार हजार वर्ष पुरानी भाषा के नमूने आज भी बोलियों में मिलना यह सूचित करता है कि अपभ्रंश का आधुनिक बोलियों से सम्बन्ध अलग नहीं किया जा सकता। अब दूसरा तर्क यह रह जाता है, कि अपभ्रंश काव्य भाषा थी। इसका समाधान भरत रुद्रट और नमिसाधु के उल्लेखों से हो जाता है, अन्यत्र इसका विचार किया जा चुका है, अतः अपभ्रंश बोलचाल की भाषा रही। आगे चलकर उसका काव्य भाषा के रूप में विकास हुआ। उसे आधुनिक भारतीय आर्य भाषाओं की जननी मानना सर्वथा उचित है।

अपभ्रंश और कालिदास

भरत मुनि के बाद महाकवि कालिदास के विक्रमोर्वशी में अपभ्रंश का प्रयोग मिलता है। राजा पुरूवा ने अपना मत्तप्रलाप अपभ्रंश में ही किया है शब्द प्राकृत होते हुए भी रूपावली अपभ्रंश की है। अन्त्यानुप्रास मिलना भी इसकी विशेषता है। अतः रूपों और तुकबंदी के आधार पर इसे भरत मुनि के बाद की अपभ्रंश कहना चाहिए। पर जैकोबी और प्रो० गुणे प्रभृति विद्वान्

इस अंश को प्रक्षिप्त मानते हैं, अपने मत की पुष्टि के लिए उन्होंने तीन तर्क दिए हैं।

(१) यह अंश गाथा में है जो प्राकृत का औरस छंद है, अपभ्रंश का अपना छंद दोहा है।

(२) कई टीकाकारों ने इसका अर्थ नहीं लिखा—यदि यह पहले से मौजूद रहता तो वे अवश्य अर्थ करते।

(३) कमल की जगह 'कवँल' नहीं मिलता।

आचार्य केशवप्रसाद इन तर्कों को अधिक युक्तियुक्त नहीं। मानते क्योंकि अपभ्रंश का 'दूहा' में न होना साधक बाधक नहीं छंद औरस होते हुए भी भाषा के स्वरूप का निर्णायक नहीं, कालिदास का समय अनश्चित है कुछ लोग उन्हें गुप्तकाल का मानते हैं और कुछ विक्रम के समय का, यदि कालिदास विक्रम-कालीन हों, तो अपभ्रंश का अस्तित्व और पीछे मानना पड़ेगा। दूसरे तर्क में सबसे बड़ी यह आपत्ति है कि प्रो० जैकोबी ने इन टीकाकारों का सख्याक्रम नहीं दिया अथवा यह भी सम्भव है कि टीकाकारों ने प्राकृत समझ कर अर्थ करने की आवश्यकता न समझी हो। तीसरा तर्क अपभ्रंश व्याकरण की दृष्टि से ही खंडित है क्योंकि 'म' का वँ प्रयोग वैकल्पिक हैं मोऽनुस्वारः नियम के भीतर आचार्य हेमचन्द ने स्वयं इसके दुहरे उदाहरण दिये हैं कमल=कवँल, इत्यादि अतः उक्तअंश को अपभ्रंश का मानने में कोई विप्रतिपत्ति नहीं।

अपभ्रंश साहित्य

अपभ्रंश भाषा में प्रभूत साहित्य उपलब्ध है अभी तक अपभ्रंश साहित्य के निम्न विभाग किए जा सकते हैं, स्तोत्र काव्य, कथाकाव्य प्रबंधकाव्य और खंडकाव्य। इसके अतिरिक्त कालिदास

के बाद सरहपा का कण्हदोहा कोष अपभ्रंश में मिलता है। शृंगार वीर और नीति की स्फुट रचनाएँ भी बड़ी गम्भीर और मार्मिक मिलती है ८ वीं १० वीं सदी में महाकवि स्वयम्भू ने हरिवंश पुराण और पउमचरिउ की रचना की। बाद में उनके पुत्र त्रिभुवन ने पिता का अधूरा काम पूरा किया। धनपाल ने 'भविसत्त कहा' बनाई, और महाकवि धवल ने 'हरिवंश' पुराण रचा, इसमें जैनतीर्थंकर नेमिनाथ और महावीर का जीवन चरित्र है। ११ वीं सदी में महेश्वर ने संयममंजरी बनाई, महाकवि पुष्पदन्त का 'महापुराण' भी इसी युग की रचना है। श्रीचंद मुनि का कथा कोष, सागरदत्त का जम्बुस्वामीचरित, पद्मकीर्ति का पार्श्वपुराण, नयनंदि का सुदर्शनचरित्र और आराधना कथा-कोष इसी सदी में रचा गया। अभयदेवसूरी का 'जय तिभुवन' गाथास्तोत्र हेमचन्द्र के गुरु देवचन्द्र का सुलसाख्यान और शांतिनाथचरित्र, वर्धमान सूरी का वर्धमानचरित्र, श्री लक्ष्मण-गणी का संदेशरासक और प्राकृत सुपाहनाहचरिउ में अपभ्रंश अंश, जिनदत्तसूरी का उपदेशरसायनचर्चरी, और काल स्वरूप कुलक, धाहिल कवि का पद्मिनीचरित्र, १२ वीं सदी की अपभ्रंश रचनाएँ हैं। हेमचन्द्र के बाद १३ वीं सदी में महेन्द्र ने योगसार और परमात्म प्रकाश लिखे, माइल्ल धवल ने दर्शनसार का अपभ्रंश दोहों में अनुवाद किया। दोहाकाव्य में दोहा-कोष के बाद पाहुडदोहा सावव्य-धम्मदोहा दोहाकाव्य की उत्तम रचनाएं हैं। इनमें धर्म तथा सदाचार सम्बंधी दोहे हैं। इस प्रकार १३ वीं सदी तक अपभ्रंश साहित्य की कृतियां उपलब्ध होती हैं उसके बाद अवहट्ट काल आता है। इस काल में भी छिटपुट अपभ्रंश रचनाएं होती रहीं।

संस्कृतं प्रकृतिः

'संस्कृतं प्रकृतिः तत्रभवं ततः आगतं वा प्राकृतम्'—आचार्य हेमचंद ने यह पंक्ति अपने व्याकरण के क्रम को लक्ष्य में रखकर कही हैं। उनका क्रम है संस्कृत, प्राकृत, शौरसेनी; मागधी, पैशाची, चूलिकापैशाची और अपभ्रंश। प्राकृत से उनका आशय महाराष्ट्री प्राकृत से है मागधी का दूसरा नाम आर्षप्राकृत भी है, प्रायः सभी प्राकृत वैयाकरणों का उपजीव्य संस्कृत व्याकरण ही रहा है उन्होंने संस्कृत व्याकरण के नियमों और प्रवृत्तियों में अपवाद और विशेष नियम बताकर ही प्राकृतों का व्याकरण लिखा है। प्राकृतों की प्रकृति और प्रत्ययों का स्वतंत्र दृष्टि से विचार नहीं किया। रूपरचना और ध्वनिविज्ञान दोनों के विवेचन का आधार संस्कृत हैं जहाँ संस्कृत से काम नहीं चला वहाँ विशेष आदेश कर दिए गए हैं.। आचार्य हेमचंद के 'संस्कृत प्रकृतिः' का भी यही अभिप्राय समझना चाहिए। पहले उन्होंने संस्कृत का पूरा व्याकरण लिखा और उसके बाद महाराष्ट्रीप्राकृत के विशेप शब्दों ध्वनियों और रूपों का अनुशासन किया, शेष के लिए 'शेषं संस्कृतवत्' कह दिया। प्राकृत के बाद शौरसेनी का अनुशासन करके उन्होंने लिखा है "शेषं प्राकृतवत्" और जो प्राकृत से सिद्ध न हो उसे 'संस्कृतवत्' समझना चाहिए मागधी के लिए शौरसेनी प्रकृति है। अपभ्रंश के लिए क्रम है, शौरसेनी प्राकृत और संस्कृत। यह व्याकरण परम्परा का क्रम है। आचार्य पाणिनि ने सबसे पहले संस्कृत का व्यवस्थित और वैज्ञानिक व्याकरण लिखा, इस व्याकरण को खूब प्रसिद्धि हुई और वह भारतीय भाषाओं के व्याकरणों का उपजीव्य बन गया, पाणिनि लक्ष्यदृष्टिक थे, और उनके बाद के वैयाकरण लक्षणदृष्टिक हुए। आचार्य हेमचंद ने व्याकरण की दृष्टि से संस्कृतं प्रकृति कहा है। इसके आधार पर यह समझना भूल है कि संस्कृत

से प्राकृतों का विकास हुआ। इसी प्रकार संस्कृत का अर्थ है संस्कार की गई भाषा, पर इसका आशय यह नहीं है कि प्राकृतों से संस्कृत का विकास हुआ। पाणिनि ने भाषा के अर्थ में संस्कृत शब्द का व्यवहार नहीं किया। उन्होंने 'छंदस् और लौकिक भाषा' संज्ञा दी है। वस्तुत: उन्होंने छंदस् और ब्राह्मण ग्रंथों की भाषा के आधार पर संस्कृत का व्याकरण लिखा, उस समय यह भाषा पच्छिमोत्तर गंगा जमुना द्वाब में बोली के रूप में रही होगी, पाणिनि के अष्टाध्यायी से स्पष्ट है कि उस समय देश में कई विभाषाएं थीं। अतः व्याकरण का पूर्वापर होना भाषा के पूर्वापरपन को सूचित नहीं करता। जो बातें अपभ्रंश के प्रसंग में कही गई हैं उनका ज्ञान शौरसेनी से कर लेना चाहिए और जो शौरसेनी से सिद्ध नहीं होती उन्हें महाराष्ट्री से, और फिर संस्कृत से। यह क्रम ध्यान में रखने से अपभ्रंश का स्वरुप सरलता से समझ में आ जायगा। आ० हेमचंद ने सिद्ध और साध्यमान दोनों प्रकार के शब्द संस्कृत से लिए है, कोई भी भाषा अमरबेल की तरह निराधार नहीं फैलती, पहले वह प्रादेशिकभूमि में नामरूप ग्रहण करती है तब फिर राजनैतिक सांस्कृतिक या साहित्यिक कारणों से सारे देश में व्याप्त होती हैं। वैयाकरणों की अधिक कसावट और साहित्यिकों की साज संवार से जब एकभाषा रुढ़ और प्राणहीन हो जाती है तो नई भाषा उसका स्थान ग्रहण करती है। भाषा का शासन लोक (जनता) के आधीन है। वैयाकरण उसका अनुशासन करते हैं, साक्षात् शासन नहीं। प्राकृतों के पतन में अपभ्रंश के उत्थान का बीज था, और अपभ्रंश के पतन में आधुनिक भारतीय भाषाओं की उत्पत्ति का। उत्थान पतन के इस क्रम में एक भाषा दूसरी भाषा से बहुत कुछ ग्रहण करती है और इस दृष्टि से उनमें एक सूत्रता खोजी जा सकती है।

वर्णमाला

वर्ण शब्द प्रतिनिधि और रंग का वाचक है। दोनों अर्थों के विचार से यह सार्थक शब्द है। लिखित और उच्चरित दोनों तरह की ध्वनि के लिए वर्ण शब्द का प्रयोग होता है। अक्षर Syllable को कहते हैं, एक झटके में जितना स्वर व्यञ्जन समूह उच्चरित होता है, वह अक्षर कहलाता है, अतः वर्ण और अक्षर का अलग अलग अर्थ है, वर्ण के दो भेद हैं, स्वर और व्यञ्जन, स्वर उस शुद्ध नाद ध्वनि को कहते हैं जिसके उच्चारण में अन्य ध्वनि की आवश्यकता नहीं पड़ती, स्वर में स्वनंततत्त्व (Sonatary) व्यञ्जन की अपेक्षा अधिक रहता है, इसलिए उसका उच्चारण देर तक किया जा सकता है, उच्चारण की दृष्टि से स्वरों का स्वतन्त्र 'अस्तित्व'* है, पर व्यञ्जन के उच्चारण में स्वरों की सहायता आवश्यक है स्वर के† बिना, व्यञ्जन का उच्चारण सम्भव नहीं। स्वर आक्षरिक (Syllabicater) होते हैं, आधुनिक भाषा विज्ञानी—र और ल को भी आक्षरिक मानते हैं, व्यञ्जन में भी मात्रा का विचार किया जा सकता है। अपभ्रंश में निम्नवर्णों का व्यवहार होता है।

(१) स्वर—	अ	इ	उ	एॅ	ओॅ	[ह्रस्व]
	आ	ई	ऊ	ए	ओ	[दीर्घ]
(२) व्यञ्जन—	क	ख	ग	घ		(कण्ठ्य)
	च	छ	ज	झ		(तालव्य)
	ट	ठ	ड	ढ		(मूर्धन्य)

* स्वयं राजन्ते स्वराः

† नाजमन्तरेण व्यञ्जनस्योच्चारणं जायते।

त थ द ध न (दन्त्य)

प फ ब भ म (ओष्ठ्य)

य र ल व (अन्तःस्थ)

स ह (ऊष्म)

स्वर विकार

संस्कृत के 'ऋ लृ ऐ और औ' में से अंतिम तीन स्वरों का अपभ्रंश में बिलकुल व्यवहार नहीं होता ऋ का विकल्प से व्यवहार होता है। इन स्वरों के स्थान में निम्न विकार होते हैं

(क) लृ = इ और इलि, क्लृप्त = किन्नो, किलिन्नो.

(ख) ऐ = ऍ, ए, अइ,

ऍ = अपरैक = अवरेॅक

ए = दैव = देव

अइ = दैव = दइअ

(ग) औ = ओ ऑ अउ

ऑ — यौवन = जोॅव्वण ओ = गौरी = गोरी

अउ— पौर = पउर गौरी = गउरी।

(घ) ऋ — अ — तृण = तणु, पृष्ट = पट्ठि

इ — तृण = तिणु, पृष्ट = पिट्ठि

उ पृष्ट = पुट्ठि

अ, आ = कृत्य = कच्चु, काच्चु

ए — गृह = गेह

री, रि—ऋच्छ-रीछ, ऋषभ = रिसहो

ऋ = सुकृत = सुकृदु, तृण = तृणु

(१) संस्कृत में ह्रस्व ऍ और ऑ का व्यवहार नहीं है, पाली प्राकृत और अपभ्रंश में है, इस बात को लक्ष्य करते हुए

आचार्य हेमचन्द ने अपने व्याकरण में कहा है कि अपभ्रंश में कादि व्यञ्जनों में रहने वाले ए और ओ का लघु उच्चारण होता* है।

जैसे—"तसु हउं कलि जुगि दुल्लहहो ॅ"

"सुधे ॅ चिन्तिज्जइ माणु"

इन अवतरणों में रेखांकित ओ और ए का लघु उच्चारण होता है, इनका दीर्घ उच्चारण करने पर एक मात्रा बढ़ जाने से छंदोभंग हो जायगा।

(२) पद के अंत में स्थित† उं हुं हिं और हं का भी लघु उच्चारण होता है,

(१) अन्नु जु तुच्छउं तहे धनहे ?

(२) दइवु घटावइ वणि तरहुं

(३) तणहुँ तइज्जी भंगि नवि

इनमें रेखांकित वर्णों का ह्रस्व उच्चारण समझना चाहिए, संस्कृतप्रदेश की भाषा होने से आधुनिक हिन्दी में भी ह्रस्व ए और ओ ॅ नहीं हैं। उनके स्थान में ह्रस्वादेश करने की प्रवृत्ति है।

जैसे—ऍक्का = इक्का

सो ॅनार = सुनार

वैदिक‡ और लौकिक संस्कृत में ह्रस्व एकार और ओ ॅकार का प्रयोग नहीं होता, अफगानिस्तान से लेकर सरस्वती के लुप्त होने के प्रदेश तक की बोलियों के विषय में यह बात आज भी सत्य है। परन्तु प्राकृतों और अन्य पूर्वीबोलियों में ऍ ओ ॅ का बराबर

* कादिस्थैदोतोरुच्चार लाघवं

† "पदान्ते उं हुं हिं हंकाराणाम्"

‡ न च लोके न च वेदे ह्रस्व एकार ओकारः।

व्यवहार होता आ रहा है, वर्णमाला और लिपि एक होने से वैयाकरणों ने इसका उल्लेख नहीं किया। देवनागरी वर्णमाला में इनके लिए स्वतंत्र-लिपि-चिह्न नहीं है। हिन्दी की बोलियों (ब्रज, अवधी) आदि में भी इनका व्यवहार होता है।

इन स्वरों के अतिरिक्त शेष स्वरों में भी विकार होते हैं:

(३) अपभ्रंश में एक† स्वर के स्थान में प्रायः दूसरा स्वर आ जाता है।

उदाहरण—

अ = इ = कृपण = किविण

अ = उ = मनुते = मुणइ

अ = ए = वल्ली = वेल्लि

आ = अ सीता = *सीय

आ = उ = आर्द्र = उल्ल

आ = ए = मात्र = मेत्त, दा = देइ, ला = लेइ,

इ = अ = प्रतिपत्ति = पडिवत्त

इउ—इक्षु = उच्छु

इ = इ = ए { बिल्व = वेल्ल, इत्थु = एत्था }

ई = { अ—हरीतिकी = हरडइ, आ—काश्मीर = कम्हार, ऊ—बिहीन—विहूण, ए—ईदृश—एरिस, वीणा = वेण, ऍ क्रीडा = खेॅड्डुअ }

† स्वराणां स्वराः प्रायोऽपभ्रंशे।

* स्त्रीलिंग आकारान्त ईकारांन्त शब्दों को ह्रस्व करने की अपभ्रंश में सामान्य प्रवृत्ति है।

उ= {
- अ {
  - मुकुट = मउड बाहु = बाह
  - मुकुलयति = मउलइ
  - सुकुमार = सउमार
- इ :—पुरुष = पुरिस
- ओॅ {
  - मुद्गर = मोॅग्गर
  - पुस्तक = पोॅत्थय
  - कुन्त = कोॅन्त

उ= {
- ए—नूपुर = नेउर
- ओॅ—मूल्य = मोॅल्ल
- ओ—स्थूल = थोर
- ताम्बूल = ताम्बोॅल

ए= इ ई—लेखा-लीह, लिह,

(क) अनुस्वार युक्त ह्रस्व स्वर के आगे यदि र स श ष या ह हो तो ह्रस्व को दीर्घ और अनुस्वार का लोप हो जाता है।

विंशति = बीस

सिंह = सीह

(ख) अपभ्रंश में छंद के अनुरोध से ह्रस्व को दीर्घ और दीर्घ को ह्रस्व होता है।

(ग) कई स्थलोंपर ह्रस्व को दीर्घ न करके अनुस्वार कर देते हैं।

दर्शन = दंसण, स्पर्श = फंस, अश्रु = अंसु० ।

व्यञ्जन-विकार

साधारण रीति से शब्द के आदिव्यञ्जन में विकार नहीं होता, पर इसके अपवाद भी हैं, धृति = दिट्ठि, दुहिता = धुअ। आदि के

'ज' को अपभ्रंश में 'य' हो जाता है, यादि=जाति, यमुना= जमुणा।

(४) *अपभ्रंश में मध्यम और असंयुक्त क ख त थ और प फ के स्थान में क्रम से ग घ द ध ब और भ होते हैं।

विक्षोभकर = विच्छोहगरु
सुखेन = सुघें
कथितः = कधिदु
शपथः – सविधु
सफलः = सभलु

आदि में होने पर यह नियम नहीं लगता जैसे 'करेप्पिणु' में आदि 'क' को ग नहीं हुआ। स्वर से परे यदि नहीं है तो भी नहीं होता जैसे मयङ्क में 'क' स्वर से परे नहीं है, अतः 'ग' नहीं हुआ। संयुक्त रहने पर भी यह नियम नहीं लगता—'एक्कहि अक्खिहिं सावणु' यहाँ 'क' वर्ण संयुक्त हैं। शौरसेनी‡ प्राकृत में त को द करने की प्रवृत्ति है, अपभ्रंश में भी यह प्रवृत्ति है, महाराष्ट्री प्राकृत में मध्यम व्यञ्जन का लोप हो जाता है। उसमें †'क' ग च ज त द प य और व के लोप का व्यापक नियम है। अपभ्रंश में भी मध्यम वर्ण के लोप करने की प्रवृत्ति है। यह स्वरीभवन, (Vocalization) कहलाता है।

जाति = जाइ, मदकल = मयगल इत्यादि।

* अनादौ स्वरादसंयुक्तानां क ख त थ प फां ग घ द ध ब भाः ८।४।३९६

‡ तो दोऽनादौ शौरसेन्यामयुक्तस्य

† क ग च ज त द प य वां प्रायोलुक्।

(५) §अपभ्रंश में म्ह के स्थान में म्भ आदेश विकल्प से होता है। गिम्हो=गिम्भो। संस्कृत के ष्म श्म स्म और ह्म आदि संयुक्त व्यञ्जनों की जगह प्राकृत में 'म्ह' आदेश होता है। तथा अपभ्रंश में प्राकृत के 'म्ह' के स्थान पर म्भ आदेश होता है।

संस्कृत ब्रह्म का प्राकृत में बम्ह रूप बनता है, और बह्म का अपभ्रंश में आकर बम्भ हो जाता है।

ग्रीष्म का प्राकृत में गिम्हो और अपभ्रंश में गिम्भो होता है। विकल्प से होने के कारण—गिम्हो भी हो सकता है।

कुछ शब्दों में दो स्वरों के बीच में स्थित ख घ थ ध और फ भ को 'ह' हो जाता है।

शाखा=साहा, पृथुल=पहुल, अधर=अहर, मुक्ताफल=मुक्ताहल। कहीं कहीं महाप्राण का त्याग भी कर दिया जाता है

जैसे—विक्षोभ=विच्छोह=विच्छोस।

ट=ड=तट=तड, कपट=कवड सुभट=सुहड

ठ=ढ=मठ=मढ, पीठ=वीढ

प=व=द्वीप=दीव, पाप=पाव

कुछ शब्दों में महाप्राण होता है।

क=ख=क्रीड=खेलइ

कर्पर=खप्पर

नवकी=नोक्खि

त=थ=भारत=भारथ

वसति=वसथि

प=फ=स्पृशति=फंसइ

परशु=फरसु

---

§ म्हो म्भो वा।

मूर्धन्यभाव

दन्त्य व्यञ्जन के स्थान में मूर्धन्य व्यञ्जन आता है।

त = ड = पतित = पडिउ

पताका = पडाय

थ = ठ = ग्रंथिपाल = गंठिपाल

द = ड = दहति = डहइ

क्षुधित = खुडिय

दोलायते = डोलइ

दुष्कर = डुक्कर

ध = ढ = विदग्ध = वियउढ

विशेष परिवर्तन

छ—आदि 'छ' ज्यों का त्यों रहता है जैसे—छण्ण। दो स्वरों के बीच में स्थित छ को च्छ होता है।

ज = य जानीमः = याणिम, यह मागधी की प्रवृत्ति है। इसी प्रकार ज को व्व करने की प्रवृत्ति बोली विशेष में हो सकती साहित्यिक अपभ्रंश में इसका बहुत कम प्रयोग हुआ है। जैसे—व्रजति का वुव्वइ।

ड = ल = क्रीडा = कील, सोडश = सोलश, तडाग = तलाउ,

निगड = नियल, पीडित = पीलिय

त = ल = अतसी = अलसी, विद्युतिका = विज्जुलिया

य = ज = यमुना = जमुना यस्य = जसु

र = ल = चरण = चलण

व = य = प्रवृत्त = पयट्ट

श = स = देश

ष = { छ = षप् = छः
ह = पाषाण = पाहान }

संयुक्त व्यञ्जन

(१) आदि संयुक्त व्यञ्जन में यदि दूसरा व्यञ्जन य र ल व हो तो उसका लोप हो जाता है।

य = ज्योतिषिन् = जोइसिउ
व्यापार = वावारउ
व्यामोह = वामोह

र = { क्रीड़ा = कील
प्रेमन् = पेम्म
व = स्वर = सर
द्वीप = दीव }

नीचे लिखे संयुक्त व्यञ्जनों का अपभ्रंश में प्रयोग होता है।

(१) समान व्यञ्जनों का संयुक्त प्रयोग—मुक्क वुत्त इत्यादि।

(२) सोष्म संयुक्त व्यञ्जन = अक्खर, अच्छ, अत्थ सम्भाव

(३) एह, म्ह, ल्ह, कण्ह, वम्ह, पल्हत्थ इत्यादि।

क्ष = { ख = क्षार = खार, क्षपणक = खवण
छ = क्षण = छण
झ = क्षीयते = झिज्जइ
घ = क्षिप्त = घित्त
क्ख = कटाक्ष = कडक्ख
ह = निक्षिप्त = निहित्त }

त्य = च्च = अत्यन्त = अच्चंत
थ्य = च्छ = मिथ्यात = मिच्छत्त
द्य = ज्ज = अद्य = अज्जु

जन्म = जम्म मध्य = मज्झ

आवश्यकता के अनुसार अपभ्रंश में संधि होती भी है और नहीं भी होती। उद्वृत स्वर के रहते संधि नहीं होती, पर इसका अपवाद भी मिलता है, व्यञ्जन लुप्त होने पर अवशिष्ट स्वर को उद्वृत स्वर कहते हैं, मधुकर और बकुल से मधुअर और बउल रूप बनते हैं, उनमें क्रमशः अ और उ उद्वृत स्वर हैं, इसकी कहीं संधि हो जाती है, जैसे अंधकार के अंधआर और अंधार रूप होते हैं, य और व को श्रुति (Glide) भी होती है।

य = केदार = केआर = केयार

व = सुभग = सुहव

सम्प्रसारण से भी ध्वनि में विकार हो जाता है।

य = इ = तिर्यञ्च = तिरिच्छ

व = उ = विद्वस् = विउस

नाम = णाव = नाउ

देवल = देउल।

ध्वनि धर्म

उच्चारण की अपूर्णता और प्रयत्न लाघव के कारण ध्वनि में विकार होना स्वाभाविक है, जो विकार सभी भाषाओं में न्यूनाधिक मात्रा में सदैव पाए जाते हैं—उनकी मीमांसा ध्वनिधर्म के अन्तर्गत की जाती है, ध्वनिधर्म, (Phonetic Phenomena) बहुत कुछ भाषा के प्राकृतिक कारण पर आश्रित हैं, जब कि ध्वनिनियम देश, काल और परिस्थिति से संबंध रखते हैं। वस्तुतः इन्हें ध्वनिनियम न कहकर—भाषा की विशेष प्रवृत्ति कहना अधिक संगत है, ध्वनिनियम के विश्लेषण में तीन बातों का विचार रखना पड़ता है।

(१) किस भाषा में (२) किस काल में और (३) किस सीमा तक उनकी व्याप्ति है। उदाहरण के लिए ग्रिमनियम जर्मन भाषाओं से संबंध रखता है, वह भी ई० पू० ७ वीं सदी में इसकी प्रवृत्ति दिखाई देती है। यह भाषा की विशेष प्रवृत्ति है, जो परिस्थिति विशेष में घटित होती है और इस परिस्थिति में इस प्रवृत्ति का विश्लेषण करना ही इसे नियम का स्वरूप देना है। ध्वनिधर्म भाषा की शाश्वत् प्रवृत्तियां है, जो अपने स्वाभाविक कारणों से होतीं रहतीं हैं।* पाणिनि शिक्षा में वर्णागम वर्णविपर्यय वर्णविकार वर्णनाश और अर्थातिशय का उल्लेख है। इनमें अर्थातिशय-अर्थ-विचार के अन्तर्गत आता है, शेष बातें ध्वनि से सम्बन्ध रखतीं हैं, अपभ्रंश में इनके उदाहरण देखिए।

(१) वर्णागम में किसी ध्वनि का आगम होता है, चाहे स्वर हो, या व्यञ्जन। इसके तीन भेद हैं, आदिवर्णागम, मध्य-वर्णागम और अन्त्यवर्णागम।

आ० वर्णागम (Prothesis)—स्त्री = इत्थि

मध्यवर्णागम—(व्यञ्जन) व्यास = वासु

दृष्टि = द्रेहि

मध्य में स्वर के आगम को स्वरभक्ति (Anaptysix) कहते हैं।

श्मशान = समासण

श्लाघते = सलहइ

दीर्घ = दीहर

आर्य = आरिय

---

* "वर्णागमो वर्णविपर्ययश्च द्वौ चापरौ वर्णविकारनाशौ,
धातोस्तदर्थातिशयेन योगस्तदुच्यते पञ्चविधं निरुक्तं"।

क्लेश = किलेश

अमर्ष = अमरिष

वर्ष = वरिस

स्वरभक्ति का भेद ही अपनिहिती (Epenthesis) है, जिस शब्द के अंत में इ, ए, उ या ओ हो तो बीच में इ या उ का आगम होता है, और वह तीसरे स्वर को बदल देता है।

वल्लि = वल्ल + इ, इस स्थिति में ल्ल के पहले इ का आगम होने पर व + इ + ल्ल + इ रूप हुआ, गुण करने पर 'वेल्लि' रूप बनता है।

ब्रह्मचर्य = वम्म च + र् + इ (य को सम्प्रसारण)
= वम्म च + इ + र् + इ (इ का आगम)
= वम्मचेर (गुण)

वर्ण विपर्यय (Metathesis)

गृह् = हर

हर्ष = रहस

दह् = ह्रद

वर्णविकार

वर्णविकार में दो समीपवर्ती ध्वनियाँ एक दूसरे के अनुरूप या प्रतिरूप बदल जाती हैं, इसे सावर्ण्यभाव (Assamilation) और असावर्ण्यभाव = (Disassamilation) कहते हैं, पूर्वसावर्ण्य-भाव = (Progressive Assamilation) और (Regressivl Assamilation)

परसावर्ण्यभाव

युक्त = जुत्त

रक्त = रत्त

मुग्ध = मुद्ध
शब्द = सद्द
उत्पल = उप्पल

पूर्वसावर्ण्यभाव

अग्नि = अग्गि
सपत्नी = सवत्ति
युग्म = जुग्ग

पूर्वअसावर्ण्यभाव

सहस्र = सहास
नूपुर = णेउर

वर्ण लोप के तीन भेद है, आदि मध्य और अंतिम वर्ण लोप।

आदि वर्ण लोप (Aphaerasis)

अधस्तात् = इट्ठा
अपि = वि
इव = व
अवलग्न = वलग्ग
उपरि = वरि
अरण्य = रण्ण

मध्यवर्ण लोप (Syncope)

पूगपल = पोप्फल
अन्तस्वरलोप (Epicope)
रामेण = रामें

अक्षर लोप (Haplology)

भविष्यदत्त कथा = भविसत्तकहा

विशेष प्रवृत्ति

द्वित्व

(क) अनुनासिक व्यञ्जन या अन्तस्थ वर्णों (य र ल व) से अन्तःस्थ वर्ण परे हों तो पूर्व को द्वित्व हो जाता है

न + य = कण्ण = कन्या

ल + य = कल्ल = कल्य

व + य = कव्व = काव्य

र + व = सव्व = सर्व

र + ल = दुल्लिलित = दुर्ललित

(ख) सामान्य व्यञ्जन से अन्तःस्थ परे रहते, सामान्य को द्वित्व होता है।

क + य = वक्क = वाक्य

क + र् = चक्क = चक्र

प + ल = विप्पव = विप्लव

क + व = पिक्क = पिक्व

रूपविचार

(MorPhology)

भाषा की अवयुति वाक्य है, वाक्य से ही भाषा शुरू होती है। वाक्य के खंड को पद कहते हैं, पद वाक्य में तभी प्रयुक्त होते हैं जब वे अन्वय योग्य साकांक्ष और आसन्न हों। साधारणतया पद का ज्ञान सभी को होता है, परन्तु प्रकृति और प्रत्यय का विश्लेषण करना भाषाविज्ञानी और वैयाकरण का काम है। पद में दो अंश रहते हैं प्रकृति और प्रत्यय। प्रकृति अर्थ तत्त्व को सूचित करती है, और प्रत्यय सम्बंध तत्त्व को। यह प्रकृति दो प्रकार की है, प्रातिपदिक Stem औरधातु Root इन्हीं में प्रत्यय लगाकर पदों की रचना की जाती है। शब्द रूपों को सुवन्त कहते हैं और धातु रूपों को तिङन्त। यहाँ सुवन्त रूपों का विचार किया जायगा। अपभ्रंश के शब्द और क्रिया रूप, पाली और प्राकृत दोनों से अपेक्षाकृत सरल हैं, द्विवचन और सम्प्रदान की विभक्ति का अभाव पाली और प्राकृतकाल में ही हो गया था। अपभ्रंश में कर्ता कर्म और सम्बन्ध की विभक्तियों का लोप व्यापक रूप से होने लगा, पाली के शब्दरूपों में संस्कृतरूपों की छाया स्पष्ट देख पड़ती है, पर अपभ्रंश रूपों में यह बात नहीं। इकारान्त उकारान्त और हलन्त शब्दों को अकारान्त बनाने की प्रवृत्ति इस काल में विशेष रूप से दिखाई देती हैं।

संस्कृत		अपभ्रंश
बाहु	=	बाह बाहा
स्वसृ	=	सस
भ्रातृ	=	भायर
मनस्	=	मन
जगत्	=	जग्
युवन	=	जुब्बाण
आत्मन्	=	अप्प

इसी प्रकार स्त्रीलिंग में आकारान्त और इकारान्त शब्दों को ह्रस्व करने की प्रवृत्ति है।

संस्कृत	=	अपभ्रंश
वीणा	=	वीण
वेणी	=	वेणि
मालती	=	मालइ
प्रतिमा	=	पडिम
पूजा	=	पुज्ज
सिकता	=	सियय
क्रीड़ा	=	कील

आकारान्त को इकारान्त भी कर देते हैं।

निशा	=	निशि
कथा	=	कहि

आधुनिक हिन्दी में निशि निशि, और दिशि दिशि रूप अपभ्रंश से आए।

(१) अपभ्रंश में [1]कर्ता और कर्म के एक वचन में अकारान्त शब्द के अंतिम अ को 'उ' होता है।

---

१ स्यमो रस्योत्

दशमुख = दहमुहु
राम = रामु
देव = देवु

(२) अपभ्रंश में कर्ता के एकवचन[१] में अकारान्त संज्ञा के अंतिम 'अ' को पुलिंग में 'ओ' विकल्प से होता है।

'जो मिलइ सहि सो सोक्खहं ठाउँ' में जो सो' रूप इसी नियम के अनुसार हुए, दूसरे पक्ष में जु सु भी हो सकते हैं। यह नियम पुलिंग शब्दों में लगता है, अतः नपुंसिकलिंग में ओकारान्त रूप नहीं होते।

(३) अपभ्रंश में करण[२] के एक वचन में अ को 'ए' होता है, दइए—

(४) अपभ्रंश में करण[३] के एक वचन में 'ण' और अनुस्वार दोनों होते हैं इस प्रकार तीन रूप बनते हैं।

देवे, देवं, देवेण, (देविण)

(५) करण और अधिकरण के बहुवचन[४] में हिं होता है—देवहिं।

(६) करण के बहुवचन[५] में विभक्ति परे रहते—संज्ञा को एकार विकल्प से होता है। 'देवेहिं'

(७) अपादान[६] के एक वचन में 'हे और हु' ये दो प्रत्यय होते हैं। वच्छहु वच्छहे=वृक्ष से,

(८) अपादान[७] के बहुवचन में हुं होता है। वच्छहुं=वृक्षों से,

१ सौ पुंस्योद्वा २ एट्टि ३ आट्टोणानुस्वारौ ४ भिस्सुपोहिं ५ भिस्येद्वा ६ ङसोर्हेहुः ७ भ्यसोहुं।

(९) सम्बन्ध[1] के एक बचन में 'सु' 'हो' स्सु होते हैं। देवसु देवहो देवस्सु=देव का।

(१०) सम्बन्ध[2] के बहुबचन में (हं) होता है। देवहं= देवों का।

(११) अधिकरण[3] के एक वचन में इ और ए आदेश होते हैं देवि, देवे,

(१२) करण[4] और अधिकरण के बहुवचन में 'हिं' होता है। देवहिं।

(१३) कर्ता[5] और कर्म की विभक्तियों का अपभ्रंश में विकल्प से लोप हो जाता है।

देव, देवा,

(१४) सम्बन्ध[6] की विभक्ति का भी बिकल्प से लोप होता है गय कुम्भहं=गजों के गण्डस्थलों को।

(१५) सम्बोधन* के बहुवचन में विभक्ति का लोप न होकर उसके स्थान में 'हो' आदेश होता है:

'तरुणहो'

इस प्रकार अकारान्त पुलिंग शब्दों के विभिन्न विभक्तियों में निम्न रुप हुए:

	एकवचन	बहुवचन
कर्ता	देव देवा देवु देवो,	देव देवा
कर्म	देव देवा देवु	देव देवा
करण	देवे देवें देवेण (देविण)	देवहिं देवेहिं
अपादान	देवहे, देवहु	देवहुं

१ ङसः सुहोस्सवः २ आमोहं ३ ङिनेच ४ भिस्सुपोहिं ५ 'स्यमूजसूशसांलुक्। ६ षष्ठयाः * आमंत्र्येजसोहोः।

सम्बन्ध—देव, देवसु देवहो देवस्सु देव देवहं
अधिकरण—देवे देवि देवहिं
सम्बोधन—देव देवा देवु देवो देव देवा देवहो

संज्ञा के[1] अंतिम स्वर को विकल्प से दीर्घ होता है, इसलिए सभी विभक्तियो में एक रुप और होता है, कर्ता और कर्म में ऊपर के उदाहरण से स्पष्ट है। अपादान के एक वचन में देवाहे देवाहो और बहुवचन में 'देवाहुँ' रुप भी होते हैं। इसी प्रकार अन्य विभक्तियों, में भी समझना चाहिए।

इकारान्त उकारान्त पुलिंग शब्दों के रूपों में अकारान्त शब्दों के रूपों से विशेष अंतर नहीं है।

(१) कर्ता और कर्म में एक समान रूप हैं।

गिरि, गिरी, गिरि, गिरी,

(२) करण[2] के एकवचन में ए अनुस्वार और ण, ये आदेश होते हैं।

गिरिएं, गिरिं, गिरिण।

(३) करण के वहुवचन 'हिं' ज्यों का त्यों है।

गिरिहिं, गिरीहिं,

(४) अपादान के एकवचन 'हे' आदेश होता हैं।

गिरिहे,

(५) अपादान के वहुवचन में ज्यों का त्यों; अकारान्त की तरह रूप है।

गिरिहुँ,

(६) सम्बन्ध में विभक्ति के लोप वाला एक ही रूप है।

गिरि, गिरि

१ 'स्यादौदीर्घह्रस्वौ' २ एं चेदुतः

(७) सम्बन्ध† के बहुवचन में 'हं' और 'हुं' होते हैं।
गिरिहं, गिरीहुं, गिरि, गिरी,

(८) अधिकरण के एकवचन में 'हि' होता है।
गिरिहि।

(९) अधिकरण‡ के बहुवचन में 'हुं' आदेश होता है।
गिरिहुं।

(१०) इकारान्त शब्दों के सम्बोधन में केवल अकारान्त शब्द के उ और ओ वाले रूप नहीं होते।

गिरि गिरी; गिरि गिरिहो

अकारान्त शब्दों की अपेक्षा इकारान्त और उकारान्त शब्दों के रूपों में बहुत कमी है, कर्ता और सम्बन्ध के एकवचन के रूप इनमें कम है। अन्य विभक्तियों में भी समानता है। जैसे—

	एकवचन	बहुवचन
कर्ता	गिरि गिरी	गिरि गिरी
कर्म	गिरि गिरी	गिरि गिरी
करण	गिरिएँ गिरिण गिरिं	गिरिहिं
अपा०	गिरिहे	गिरिहुं
सम्बन्ध	गिरि गिरि	गिरिहं गिरिहुं
अधि०	गिरिहि	गिरिहुं
सम्बो०	गिरि गिरी	गिरि गिरी गिरिहो

अंतिम 'इ' को दीर्घ करने से सभी विभक्तियों में एक रूप और बनता है। यह अपभ्रंश की सामान्य प्रवृत्ति है, जो सभी जगह काम करती है।

† हुँ चेदुद्भ्यां ‡ स्यम् जस्शसो लुंक।

नपुंसक लिंग

अपभ्रंश के नपुंसक लिंग में कर्ता और कर्म के रूपों में कुछ भिन्नता है, शेष विभक्तियों में पुलिंग शब्दों के रूपों की तरह रूप समझना चाहिए।

(१) कर्ता और कर्म[1] के बहुवचन में नपुंसकलिंग में 'इं' आदेश होता है।

कमलु, कमलइं, कमलाइं,

(२) क[2] प्रत्ययान्त शब्दों को, कर्ता और कर्म के एक वचन में उं आदेश होता है।

तुच्छकं = तुच्छउं

इस प्रकार नपुंसक लिंग में रूप हुए—

	एकवचन	बहुवचन
कर्ता	कमलु, कमला, कमल,	कमलइं कमलाइं,
कर्म	कमलु, कमला, कमल,	कमलइं कमलाइं

शेष विभक्तियों में पुलिंग की तरह रूप चलते हैं।

स्त्रीलिंग

(१) अपभ्रंश[3] में स्त्रीलिंग शब्दों को कर्ता और कर्म के बहु वचन में उ और ओ आदेश होते हैं।

मुग्धा = मुद्धाउ मुद्धाओ

(२) करण[4] के एक वचन में 'ए' आदेश होता है।

मुद्धए

(३) करण के बहु वचन में 'हिं' आदेश होता है।

मुद्धहिं

१ "क्लीबे जस्जशोरिं" २ "कान्तस्योत्" ३ "स्त्रियां जस्शसोरुदोत्
४ "टए"

(४) अपादान[1] और सम्बन्ध के एक वचन में 'हे' आदेश होता है।

मुद्धहे

(५) अपादान[2] और सम्बन्ध के बहुवचन में 'हु' आदेश होता है।

मुद्धहु

(६) अधिकरण[3] के एक वचन में 'हि' आदेश होता है।

मुद्धहि;

(७) अधिकरण के बहुवचन में 'हिं' होता।

मुद्धहि

इस प्रकार निम्न रूप हुए।

	एकवचन	बहुवचन
कर्ता	मुद्ध मुद्धा	मुद्ध मुद्धा मुद्धाउ मुद्धाओ
कर्म	,, ,,	,, ,, ,, ,,
करण	मुद्धए	मुद्धहिं
अपा०	मुद्धहे	मुद्धहुं
सम्बन्ध	,,	,,
अधि०	मुद्धहि	मुद्धहिं
सम्बो०	मुद्ध मुद्धा	मुद्ध मुद्धा मुद्धहो मुद्धाहो

कर्ता और कर्म के रूपों की तरह शेष विभक्तियों में दीर्घ रूप भी होते हैं जैसे करण के एकवचन में मुद्धाए और बहु वचन में मुद्धाहिं।

यदि तीनों लिंगों में अकारान्त इकारान्त और उकारान्त शब्दों के रूपों को देखा जाय तो अधिक अन्तर नहीं मिलेगा। नपुंसक

१ "ङस्ङस्योर्हे २ भ्यसामो हुं ३ ङेर्हि।

लिंग के कर्ता और कर्म के बहुवचन में 'इं' आदेश होता है, शेष रूप पुलिंग की तरह चलते हैं। नपुंसक और स्त्रीलिंग में पुलिंग की तरह इकारान्त उकारान्त शब्दों के अलग अलग रूप नहीं होते ! अपभ्रंश के विभक्ति-रूपों पर ध्यान देने से यह बात विशेष रूप से दिखाई देती है कि संस्कृत की तरह उसकी प्रकृति में विकृति बहुत कम आती है, और जो कुछ विकृति आती है वह ह्रस्व दीर्घ के कारण। संस्कृत में एक ही देव शब्द, विभिन्न कारकों में देवः, देवेन देवात् देवे देवानां, आदि अनेक रूप धारण करता है, परन्तु अपभ्रंश में देवें, देवे देवि, (करण और अधिकरण) को छोड़कर, शेष विभक्तियों के रूपों में, प्रकृति में विकृति नहीं आती। विभक्ति संयोगावस्था में होते हुए भी प्रकृति और प्रत्यय का स्वरूप स्पष्ट झलकता हैं ! संक्षेप में तीनों लिंगों के विभक्ति चिह्न इस प्रकार हैं, शून्य, विभक्ति के लोप का चिह्न है।

पुलिंग अकारान्त

	एकवचन	बहुवचन
कर्ता	० उ, ओ	०
कर्म	० उ	०
करण	ए एं ण	हिं, एहिं
अपा०	हे, हु,	हुं
सम्बन्ध	० सु हो स्सु	० हं
अधि०	इ, ए,	हि
सम्बो०	० उ, ओ	० हो

पुलिङ्ग इकारान्त उकारान्त शब्दों के विभक्ति चिन्ह

	एकवचन	बहुवचन
कर्ता	०	०

कम	०	०
करण	एं, ण, ँ,	हिं
अपादान	हं	हुँ
सम्बन्ध	०	० हं हुं
अधि०	हि	हुं
सम्बोधन	०	० हो

नपुंसक लिङ्ग के विभक्तिचिन्ह

	एकवचन	बहुवचन
कर्ता	०	० इं
कर्म	०	० इं

शेष पुलिङ्ग की तरह।

स्त्रीलिङ्ग

	एकवचन	बहुवचन
कर्ता	०	० उ, ओ
कर्म	०	० ,, ,,
करण	ए	हिं
अपा०	हे	हु
सम्बन्ध	हे	हु
अधि०	हि	हिं
सम्बोधन	०	० हो

ऊपर यह उल्लेख किया जा चुका है कि अपभ्रंश में हलन्त और इकारान्त शब्दों को अकारान्त बनाने की व्यापक प्रवृत्ति है। ऋकारान्त 'शब्द' को भी इकारन्त या अकारान्त बना लिया जाता है। उदाहरण के लिए पितृ शब्द के सात-आठ रूप सम्भव है :—पिअ, पिद, पिइ, पिउ, पिदु, पिअर और पिदर। इनमें

पिअ पिद और पिअर के देव शब्द की तरह रूप समझना चाहिए, और शेष के गिरि की तरह। यदि ऋकारान्त शब्द नपुंसकलिंग का है तो नपुंसक के रूपों की तरह रूप चलेंगे।

पूषन् (सूर्य) आदि शब्दों के रूप, पूस या पूसाण प्रकृति बनाकर चलते है।

	एकवचन	बहुवचन
कर्ता	पूसु, पूसो, पूस, पूसा	पूस पूसा
	पूसाणु पूसाणो, पूसाण	पूसाण पूसाणा
	पूसाणा	
कर्म	"	"

शेष रूप, देव शब्द की तरह समझना चाहिए।

सर्वनाम

(Pronoun)

(द्वितीय पुरुष)

तुम (युष्मद्) शब्द के अपभ्रंश में निम्नरूप होते हैं।

	एकवचन	बहुवचन
कर्ता	तुहं	तुम्हे तुम्हइं
कर्म	पइं, तइं,	,, ,,
करण	,, ,,	तुम्हेहिं
अपा०	तउ तुज्झ तुध्र	तुम्हहं
सम्बन्ध	,, ,, ,,	,,
अधि०	पइं तइं	तुम्हासु

(प्रथम पुरुष)

मैं (अम्मद्) के रूप।

	एकवचन	बहुवचन
कर्ता	हउं	अम्हे अम्हइं
कर्म	मइं	,, ,,
करण	,,	अम्हेहि
अपा०	महु मज्झु	अम्हहं
सम्बन्ध	,,	,,
अधि०	मइं	अम्हासु

तुम और मैं के रूपों में 'अम्ह' और तुम्ह' तत्त्व अधिकांश रूपों में सामनरूप से मिलता है, बहुवचन के रूपों में अधिक विरूपता नहीं है। कर्ता कर्म करण और अधिकरण के एक वचन में दोनों शब्दों के एक से रूप होते हैं, अपादान और सम्बन्ध के दोनों वचनों के रूप समान हैं कर्ता और कर्म के बहुवचन के रूप भी समान हैं।

(अन्य पुरुष)

सव्व = सब, सव (संस्कृत)

अपभ्रंश* में सर्व शब्द को विकल्प से 'साह' आदेश होता है।

	एकवचन	बहुवचन
कर्ता	सव्वु सव्वो सव्व	सव्वे सव्व सव्वा
कर्म	सव्वु सव्व सव्वा	सव्व सव्वा
करण	सव्वेण सव्वें	सव्वेहिं [सव्वेसिं]
अपा०	सव्वहां सव्वाहां	सव्वहुं सव्वाहुं
सम्बन्ध	सव्वसु, सव्वस्सु सव्वहो सव्व, सव्वा	सव्वहं सव्व सव्वा
अधि०	सव्वहिं	सव्वहिं

इसी प्रकार 'साह' के रूप समझना चाहिए। 'साह' आदेश अपभ्रंश में ही होता है, प्राकृत में नहीं।

सर्वनाम† शब्दों के रूपों में अपादान के एकवचन में, 'हाँ', और अधिकरण‡ के एकवचन में 'हिं' आदेश होते हैं, शेष रूप प्राय: अकारान्त पुलिङ्ग शब्दों की तरह होते हैं।

नपुंसक लिंग

	एकवचन	बहुवचन
कर्ता	सव्वु सव्व सव्वा	सव्वइं सव्वाइं
कर्म	,, ,,	,, ,,

---

* सर्वस्य साहो वा † सर्वादेर्ङसेर्हां ‡ ङेर्हिं

शेष पुलिङ्ग की तरह। स्त्रीलिङ्ग में भी आकारान्त स्त्रीलिङ्ग शब्द की तरह रूप होते हैं।

यह (एतद्)

यह (एतद्)[1] शब्द के लिए, अपभ्रंश के तीनों लिंगों में क्रमशः कर्ता और कर्म[2] के एकवचन में 'एह एहो एहु' और वहुवचन में[2] 'एई'—आदेश होता है।

		एकवचन	वहुवचन
पुलिंग—	कर्ता	एहो	एइ
	कर्म	,,	,,
स्त्रीलिंग—	कर्ता	एह	एईउ एहाउ
	कर्म	,,	,, ,,
नपुंसकलिंग—	कर्ता	एहु	एइइं एईइं एहाइं
	कर्म	,,	,, ,,

शेष रूप 'सव्व' की तरह जानना चाहिए। वह (अदस्) शब्द के अर्थ में अपभ्रंश में कर्ता और कर्म केवहुवचन में 'ओइ'[3] आदेश होता है—

"वड्डा घर ओइ" = वे बड़े घर

सर्वनाम से बननेवाले विशेषण (प्रत्येक के दो रूप बनते हैं)

(१) परिणामवाचक विशेषण

जितना	जेवडु[4]	जेत्तुल[5]
कितना	केवडु	केत्तुल

१ एतदः स्त्री पुंक्लीबे एह एहो एहु २ एइर्जस्शसोः ३ अदस ओइः ४ वायत्तदोतोर्डेवडः ५ वेदंकिमोर्यादेः।

उतना	तेवड्ड	तेत्तुल[1]
इतना	एवड्ड	एत्तुल

(२) गुणवाचक विशेषण (प्रत्येक के दो रूप)

जैसा	जइसो[2]	जेहु[3]
तैसा	तइसो	तेहु
कैसा	कइसो	केहु
ऐसा	अइसो	एहु

सम्बन्ध वाचक

इस जैसा = एरिस

तुम्हारा जैसा = तुम्हारिस

हमारा = हम्हारिस

तुम्हारा[4] हमारा अर्थ में अपभ्रंश में तुम्ह अम्ह शब्द से डार प्रत्यय होता है, 'ड का लोप होने पर' तुम्हारा हम्हार रूप बनते हैं।

'हेम तुम्हाला कर मरउं'

स्थान वाचक अव्यय

यहां	एत्थु[5]	
जहां	जेत्थु	जत्तु
तहां	तेत्थु	तत्तु
कहां	केत्थु[6]	

'यहां वहां' इस अर्थ में डेत्तहे आदेश होता है।

एत्तहे[7] तेत्तहे = यहां वहां

१ अतोडेत्तुलः २ अतां डइसः ३ यादृक्तादृक्की दृगीदृशां दादेर्डेहः ४ युष्मदादेरीयस्य डारः ५ यत्र तत्रयोस्त्रस्य डिदेत्थ्वत्तु ६ ऐत्थु कुत्रात्रे ७ त्रस्य डेत्तहे

केत्तहे = कहां, तेत्तहे = तहां

जहिं कहिं तहिं—आदि सप्तम्यन्तरूप भी अव्यय के समान प्रयुक्त होते हैं।

समय वाचक अव्यय

जब तक—जामहिं,[१] जाम, जाउं

तब तक—तामहिं, ताम, ताउं

तब से (ततः) = तो

रीति वाचक अव्यय

जिस प्रकार—जेम,[२] जिम, जिह, जिध।

किस प्रकार—केम, किम, किह, किध।

तिस प्रकार—तेम, तिम, तिह, तिध।

अपभ्रंश के विशेष कार्य

अपभ्रंश[३] में अनादि में स्थित असंयुक्त 'म' को विकल्प से अनुनासिक 'व' होता है।

कमलु = कवँलु

भमरु = भवँरु

संयुक्त अथवा आदिमें रहने पर नहीं होता, जैसे जम्मु और मयणु। लाक्षणिक प्रयोगों में भी यह नियम लगता है जिम = जिवँ, तिम = तिवँ, जेम = जेवँ, तेम = तेवँ इत्यादि।

सम्बन्धीसर्वनाम—जो (यत्)

		एकवचन	बहुवचन
कर्ता	पु०	जु जो	जे
	स्त्री०	जा	जाउ

---

१ यावत्तावतोर्वादेर्मउं महिं २ "कथं यथा तथां थादे रेमेमेहेधा डितः" ३ मोनुनासिको वो।

	नपु०	जं ध्रुं[१]	जाइं
कर्म	पु०	जं	जे
	स्त्री०	जं	जाउ
	नपु०	जं जु	जाइं
करण	पु०	जेण जिं जें	जेहिं
	स्त्री०	जाइं, जाएँ जिए,	जेहिं
अपा०	पु०	जउ जहे	जहु
	स्त्री०	जाहे	जाहिं
सम्बन्ध	पु०	जासु[२] जसु जस्स जहो जहे,	जाहं जाह
	स्त्री०	जाहि	जाहिं
अधि०	पु०	जहिं, जम्मि	जहि
	स्त्री०	जाहि	जाहिं

निर्देशवाचक—वह=(तद्)

		एकवचन	बहुवचन
कर्ता	पु०	सो सु स	ते
	स्त्री०	सा, स,	ताउ, ति
	नपुं०	तं तु	ताइं
कर्म	पु०	तं	ते
	स्त्री०	तं	ताउ
	नपु०	तं त्रं,	ताइं
करण	पु०	तेण तइं तें तिं	तेहिं ताहं तेहि
	स्त्री०	तइं, तिए, ताए, तए	तेहि,
अपा०	पु०	तहे तउ	तहु

१ 'यत्तदः स्यमो ध्रुं त्रं' २ 'यत्तत्किम्योः डासुर्नवा'

		एकवचन	बहुवचन
	स्त्री०	ताहं, तहे,[1]	ताहिं
सम्बन्ध	पु०	तासु तहो	तहु
		तहि तसु तहु तहि	
	स्त्री०	तिह ताहि तहे	ताहि
अधि०	पु०	तहिं, तहि	तहिं
	स्त्री०	तहि तहि	ताहि

प्रश्नार्थ सर्वनाम—क्या, कौन (किम्)

किम् के लिए- अपभ्रंश में[2] काइं और कवण आदेश विकल्प से होते हैं। इस तरह- क, काइं और कवण इन तीन से विभक्ति लगाई जा सकती है। क के रूप

		एकवचन	बहुवचन
कर्ता-कर्म	पु०	को कु	के
	स्त्री०	का क	कायउ काउ
	नपु०	किं	काइं
करण	पु०	केण कइं	केहिं
	स्त्री०	काइं काए	केहि काहि
अपा०	पु०	कउ किहे कहां	कहु
	स्त्री०	काहे	काहिं
सम्बन्ध	पु०	कहो कहु कस्स कासु	काहं
	स्त्री०	काहिं काहि	काहि
अधि०	पु०	कहि कहिं	कहिं
	स्त्री०	काहिं	काहिं

---

१ 'स्त्रियांडहे' २ किमः काइं कवणौ वा।

कवण के रूप सव्व की तरह, और काइं के इकारान्त की तरह चलते हैं ! किं और काइं का अव्यय की तरह भी प्रयोग होता है।

यह

यह (इदम्) को अपभ्रंश में "आय"[1] होता है। तीनों लिङ्गों में 'सव्व' की तरह आय के रूप होते हैं केवल नपुंसक लिंग में कर्ता और कर्म के एक वचन में[2] 'इमु' होता है।

पुलिंग

	एकवचन	बहुवचन
कर्ता	आयु आयो आय आया	आये आय आया
कर्म	आयु आय आया	आय आया

नपुंसक

कर्ता	इमु	आयाइं आयइं
कर्म	इमु	,, ,,

अव्यय

(१) अपभ्रंश में[3] एवं (ऐसा ही) परं (पर) समं (समान) ध्रुवं (निश्चय ही) मा (निषेधार्थक) मनाक् (थोड़ा) शब्दों के स्थान में क्रमशः एम्व पर, समाणु, ध्रुवु मं और मणाउं आदेश होते हैं। जैसे—

निद्द न एम्व न तेम्व = नींद न ऐसे ही, न वैसे ही (आती है।) गुणहिं न सम्पय कित्ति पर = गुणों से सम्पत्ति नहीं परन्तु

१ इदमः आयः २ इदमः इमु क्लीबे। ३ एवं परं समं ध्रुवं मा मनाक् एम्व पर समाणु ध्रुवु मं मणाउं।

कीर्ति (मिलती है)। चञ्चलु जीविउ ध्रुवु मरणु = जीवन क्षणिक है और मरण निश्चित है। इत्यादि।

अपभ्रंश में[1] किल, (प्रसिद्धि के अर्थ में) अथवा, दिवा, (स्वर्ग) सह (साथ) और नहि (नहीं) के स्थान में क्रमशः किर अहवइ दिवे सहुँ और नाहिं आदेश होते हैं।

किर खाई न पिअइ किर = किल

अहवइ न सुवंसह एह खोडि = अहवइ = अथवा, दूसरा रूप अहवा भी होता है।

अहवा तं जि निवाणु = अहवा = अथवा

दिवे दिवे गंगाण्हाणु = दिवे दिवे = दिवा

जउ पविसंते सहुँ न गयउ = सहुँ = सह

एक्कवि कणिअ नाहिं ओहट्टइ = नाहिं = नहि (एक भी कण कम नहीं होता)

(२) अपभ्रंश में क्रमशः निम्न शब्दों को निम्न आदेश होते हैं।

(पीछे) पश्चात्[2] = पच्छइ—पच्छइ होइ विहाणु

(ऐसे ही) एवमेव = एम्वइ—एम्वइ सुरउ समत्तु

(ही) एव = जि—एक्कु जि

(इस समय) इदानीं = एम्वहिं—'एम्वहिं राहपयोहरहं जं भावइ तं होउ'

(बल्कि) प्रत्युत = पच्चलिउ—भडु पच्चलिउ सो मरइ जासु न लग्गइ कण्ठि

१ किलाथवा दिवा सह नहेः किराहवइ दिवे सहुँ नाहिं।

२ "पश्चादेवमेवैवेदानीं प्रत्युतेतसः पच्छइ एम्वइ जि एम्वहिं पच्चलिउ एत्तहे॥

(३) (यहां से) इतः = एत्तहे—एत्तहे मेह पिअन्ति जलु

(४) अपभ्रंश में विषण्ण (खिन्न) उक्त और वर्त्म (मार्ग) शब्दों के स्थान में क्रमशः वुन्न वुत्त और विच्च आदेश होते हैं।

विषण्ण = वुन्नउ—एम्वइ वुन्नउ काइं ?

उक्त = वुत्त—मइं वुत्तउं ?

वर्त्म = विच्च—जं मग्गु विच्चि न माइ।

(५) अपभ्रंश में[1] अधः स्थित रेफ का विकल्प से लोप हो जाता है प्रिय = पिउ, दूसरे पक्ष में 'प्रियेण' रूप भी होगा।

(६) अपभ्रंश[2] में कहीं कहीं रेफ का आगम हो जाता है। जैसे—व्यास = ब्रासु, रेफ का आगम न होने पर वासु रूप भी बनता है।

(७) अपभ्रंश[3] में आपद् विपद् और सम्पद् शब्दों के 'द्' के स्थान में विकल्प से 'इ' होती है = आवइ, विवइ, संवइ। दूसरे पक्ष में 'सम्पय रूप सिद्ध होता है। 'गुणहिं न सम्पय कित्ति' पर'।

(८) अपभ्रंश[4] में परस्पर शब्द के आदि में 'अ' का आगम होता है 'अवरोपरु' = परस्पर = आपस में।

(९) अपभ्रंश[5] में अन्यथा शब्द के स्थान में 'अनु' आदेश विकल्प से होता है। अनु = नहीं तो। दूसरे पक्ष में 'अन्नह' रूप होगा।

(१०) अपभ्रंश[6] में कुतः (कहां) के स्थान में कउ और कहन्तिहु आदेश होते हैं।

धूमु कहन्तिहु उट्ठिअओ = धूम कहां से उठा ?

कउ झुप्पड़ा वलन्ति = झोपड़ी कहां से जल रही हैं ?

---

१ माधो रो लुक् २ अभूतोऽपि क्वचित् ३ 'आपद्विपत्सम्पदां द इः'
४ परस्परस्यादिरः ५ वान्यथोऽनुः ६ 'कुतसः कउ कहन्तिहुः'

(११) अपभ्रंश[1] में ततः और तदा, इनके स्थान में 'तो' आदेश होता है।

'जइ भग्गा पारक्कड़ा तो सहि मज्झु पियेण'

यदि दूसरे लोग (शत्रु) नष्ट हुए तो सखि मेरे प्रिय के द्वारा।

(१२) अपभ्रंश[2] में अन्यादृश को अन्नाइस और अवराइस आदेश होते हैं अन्नाइसो, अवराइसो=दूसरे जैसा,

(१३) अपभ्रंश[3] में प्रायः शब्द के बदले में प्राउ, प्राइव प्राइम्व और पगिम्व आदेश होते हैं।

अन्नु जि प्राउ विहि=प्रायः दूसरा ही विधाता है। "प्राइव मुणिहं वि भंतड़ी" प्रायः मुनियों को भी भ्रांति है।

तादर्थ्य[4]=(के लिए के अर्थ में) अपभ्रंश में केहिं तेहि रेसि रेसिं और तणेण ये पांच निपात होते हैं।

उदाहरण—तउ केहि हउं भिज्जउं=तुम्हारे लिए मैं छीज रही हूँ।

वड्डत्तणहो तणेण=बड़प्पन के लिए?

अन्नहि रेसि=अन्न के लिए, इत्यादि

इवार्थ[5] (के समान) इस अर्थ में अपभ्रंश में नं नउ नाइ नावइ, जणि और जणु आदेश होते हैं।

नं मल्लजुज्झु ससिराहु करहिं=मानो ससि और राहु मल्लयुद्ध कर रहे हैं।

नउ जीवग्गलु दिण्णु=मानो जीवार्गल दिया।

थाह गवेसइ नाइ=मानो थाह खोज रही है इत्यादि।

---

१ ततस्तदोस्तो २ 'अन्यादृशोन्नाइसावराइसौ' ३ "प्रायसः प्राउ प्राइव प्राइम्व पगिम्वाः" ४ तादर्थ्ये केहिं तेहिं रेसि रेसिं तणेणाः ५ इवार्थे नं नउ नाइ नावइ जणि जणवः।

भाववाचक[1] संज्ञा बनाने के लिए अपभ्रंश में प्पणु और तण प्रत्यय आते हैं।

वड्डप्पणु } = वड्प्पन
वड्डत्तणु }

हिन्दी का भाववाचक 'पन' अपभ्रंश से ही आया है। इसी प्रकार मुखड़ा दुखड़ा दिन दहाड़े- प्रभृति शब्दों में 'ड़' स्वार्थिक-प्रत्यय अपभ्रंश की ही देन है, राजस्थानीभाषा में यह प्रवृत्ति अधिक है।

अपभ्रंश में[2] स्त्रीलिंग बनाने के लिए डी और डा प्रत्ययों का उपयोग किया जाता है।

यथा—गोरडी धूलडिआ[3]

आधुनिक हिन्दी में भी स्त्रीलिंग बनाने में अधिकतर 'ई' का उपयोग होता है।

स्वार्थिक प्रत्यय

अपभ्रंश[4] में पुनः और बिना शब्द से स्वार्थ में 'डु' प्रत्यय होता है 'उ' का लोप होने पर पुणु और बिनु रूप बनते हैं।

विनु जुज्झें न वलाहुं,

जहिं पुणु सुमरणु जाउं गउ,

अपभ्रंश[5] में 'अवश्य' शब्द से स्वार्थ में डें और ड प्रत्यय होते हैं। इस प्रकार क्रमशः अवसें और अवस रूप बनते हैं।

अवसें सुक्कइं पण्णाइं

अवस न सुअहिं सुहच्छिअहिं

---

१ त्वतलोः प्पणुः २ "स्त्रियां तदन्ताड्डी" "अन्तान्ताड्डाः" ३ धूलडिआ में उ "अ" को इ आदेश "अस्येदे" इस विशेषनियम से होता है ४ 'पुनर्विनः स्वार्थेडुः' ५ अवश्यमो डें डौ

अपभ्रंश[1] में एकशः शब्द से स्वार्थ में 'डि' प्रत्यय होता है, एकशः = एक्कसि,

'एक्कसि सीलकलंकिअहं देज्जहि पच्छित्ताइं,

अपभ्रंश[2] में संज्ञा से परे, स्वार्थ में 'अ' डड, और डुल्ल प्रत्यय होते हैं, तथा स्वार्थिक 'क' प्रत्यय का लोप भी होता है। इनके[3] आपसी योग से भी स्वार्थिक प्रत्यय बनते हैं, अतः कुल प्रत्यय इस प्रकार हुए।

अ — पथिउ

डड— महु कन्तहो वे दोसड़ा

डुल्ल— एक्क कुडुल्ली पचहिं रुद्धी

डड + अ = फोडेन्ति जे हिअडउं अप्पणउं

डुल्ल + अ = चुडुल्लउ चुन्नी होइसइ,

डुल्ल + डड = पेक्खिवि बाहु बलुल्लडा

लिंग विचार

अपभ्रंश[4] में लिंग की अव्यवस्था है, तीनों लिंगों का एक दूसरे में बदलना साधारण बात है। उदाहरण के लिए देखिए—

(१) 'अब्भा लग्गा डुङ्गरिहिं' में अभ्रं नपुंसकलिंग का अब्भा पुलिंग रूप है।

(२) 'पाइ विलग्गी अंत्रडी' में अन्त्रं नपुंसक का अन्त्रडी स्त्रीलिंग रूप है।

(३) 'गय-कुम्भइं दारन्तु' में कुम्भः पुलिंग का कुम्भइं नपुंसकलिंग रूप है।

---

१ एकशसो डिः २ अ डड डुल्ल स्वार्थिक क लुक् च ३ योगश्चैषाम्।
३ लिङ्गमतंत्रम्।

(४) 'पुत्तु डालइं मोडन्ति' स्त्रीलिंग का नपुंसकलिंग रूप है। संस्कृत में विशेषण का लिंग और वचन, विशेष्य के अनुसार ही, होता है अपभ्रंश में यह अनुशासन नहीं हैं,

'तुह विरहग्गि किलंत''

''गोरड़ी दिट्ठी मग्गु निअन्त''

इन अवतरणों में 'किलंत और निअन्त' स्त्रीलिंग के विशेषण होते हुए भी स्त्रीलिंग नहीं है, हिन्दी तत्सम विशेषणों में लिंग आवश्यक नहीं, जैसे—सुंदर लड़की। इत्यादि।

देशान् = देसइं
आरंभान् = आरम्भइं
कटाक्षान् = कडक्खइं

इन उदाहरणों में संस्कृत के पुलिङ्ग शब्दों का अपभ्रंश में नपुंसक लिङ्ग में प्रयोग हुआ है। अपभ्रश में लिङ्ग का अनुशासन नहीं है, यह प्रवृत्ति आधुनिक हिन्दी में बहुत कुछ अपभ्रंश से आई।

विभक्त्यर्थ

प्राकृत और अपभ्रंश में चतुर्थी विभक्ति नहीं है। उसके स्थान में षष्ठी विभक्ति का प्रयोग होता है जैसे—''आदग्गहं मब्भीसड़ी जो सज्जन सो देइ'' यहाँ आदग्गहं में चतुर्थी की जगह षष्ठी का प्रयोग है। दूसरे कारकों की भी विभक्तियों का आपस में विनियम होता हैं। तृतीया के स्थान में षष्ठी होती है, जैसे—'कन्तु जु सीहहो उवमिअइ, इस उदाहरण में सीहहो में षष्ठी है। द्वितीया की जगह कभी-कभी षष्ठी का प्रयोग कर देते हैं। ''सज्जणाहं अवराहिउ न करंति'' इस वाक्य में सज्जणाहं में द्वितीया

की जगह षष्ठी का प्रयोग है। उल्लिखित उदाहरणों से स्पष्ट है कि षष्ठी बहुत व्यापक विभक्ति है। इसके अतिरिक्त कई स्थलों में द्वितीया और तृतीया के बदले में सप्तमी आती है, तथा पंचमी के स्थान में तृतीया और सप्तमी। इसी प्रकार सप्तमी की जगह कभी-कभी द्वितीया की विभक्ति का व्यवहार होता है।

आख्यात

वैदिक और ब्राह्मणों की भाषा में आख्यात (क्रिया) का अधिक प्रयोग था। संस्कृत में, गण लकार वचन और आत्मनेपद आदि के भेद से क्रिया के अनेक रूप हाते हैं। आगे चलकर क्रिया रूपों में सरलता हुई। दस की जगह पाँच ही गण मिलने लगे, दो वचन का लोप, परस्मैपद और भ्वादिगण का प्रभाव बढ़ा, लुट और लिंग कम हुए। यह पाली युग की बात है। प्राकृत काल में और सरली करण हुआ। महाराष्ट्री प्राकृत में गणों का एकदम अभाव है, उसमें भ्वादिगण की व्यापकता है। कर्ता, कर्म और प्रेरणार्थक रूपों की बहुलता होने लगी। कालों में वर्तमान विधि आज्ञा और भविष्य ही रह गए! अपभ्रंशयुग में आख्यात की यही स्थिति थी। कालों में कमी होने से कृदन्तों का प्रयोग बढ़ना अनिवार्य था। यह प्रवृत्ति संस्कृत में भी बाद में दिखाई देने लगी। अपभ्रंशयुग में अख्यात के रूप यद्यपि संयोगात्मक थे, फिर भी उनमें कमी होती गई। अपभ्रंश के वर्तमान में आख्यात और कृदन्त दोनों का प्रयोग होता है, जब कि भूतकाल में केवल कृदन्त का। आत्मनेपद का एकदम अभाव है, कहीं-कहीं एक दो रूपों में आत्मनेपद के प्रत्यय देख पड़ते हैं, वह भी पुराने संस्कार के कारण। उदाहरण के लिए 'पिच्छए, लुब्भए' वहमाण पविस्समाण इत्यादि। धातु, क्रिया के उस अंश को कहते हैं, जो उसके समस्त रूपों में विद्यमान रहता है। जैसे—जाता है, जाओ, जाना,

जायगा प्रभृति क्रियारूपों में 'जा' सभी में है, उसमें विकृति नहीं आती। अपभ्रंश में स्थूल रूप से पाँच प्रकार की धातुएँ हैं।

(१) मूलधातु में उन धातुओं की गणना होती है जो देशज हैं और जिनके विकास में संस्कृतधातु का कुछ भी योग नहीं है आ० हेमचन्द ने तद्यादीनां छोल्लादयः के अन्तर्गत धात्वादेश के रुप में ऐसी धातुओं का उल्लेख किया है। यहाँ तद्य के स्थान में छोल्ल के आदेश का इतना ही अभिप्राय जान पड़ता है कि लोक में तद्य के अर्थ में 'छोल्ल' धातु का व्यवहार होता है। वस्तुतः इस प्रकार की धातुएं अपभ्रंश की अपनी मूल सम्पत्ति हैं।

(२) सप्रत्ययधातु में उन धातुओं की गणना होती है जिनका विकास प्रत्यय-सहित संस्कृत क्रिया-रूप से हुआ। उपविष्ट = विट्ठ = विट्ठइ, इत्यादि। हिन्दी का बैठना इसी से निकला।

(३) विकरणधातु उन धातुओं को कहते हैं जिनका विकास संस्कृत धातु की साध्यमान प्रकृति से हुआ है।

यथा = जिणइ, थुणइ, कुणइ, णासइ, णच्चइ,

(४) नामधातु = जैसे—जयजयकारइ हक्कारइ, नमइ, पयासइ, अपभ्रंश में नामधातु का अधिक प्रयोग है, आधुनिक हिन्दी, इस दृष्टि से दरिद्र है।

(५) ध्वनिधातु = अनुकरण के आधार पर धातु की कल्पना कर ली जाती है।

खुसखुसइ, कुलुकुलइ, गिणगिणइ, गुमगुमइ,

धातुरुप

(१) अपभ्रंश में संस्कृत की व्यञ्जनान्त धातु में 'अ' जोड़ कर, रूप बनाये जाते हैं।

भण् + अ + इ = भणइ = कहता है।

कह् + अ + इ = कहइ कहता है।

इनमें 'अ' को विकरण समझना चाहिए।

(२) उकारान्त धातुओं को 'अव' होता है।

रु = रुवइ = रोता है।

सु = सुवइ = सोता है।

(३) ऋवर्णान्त धातुओं के अंतिम ऋ को 'अर' देते हैं।

कृ = कर, = करइ = करता है।

मृ = मर = मरइ = मरता है।

हृ = हर = हरइ = हरता है।

उपान्त्य ऋ को अरि होता है।

कृष = करिसइ

मृष = मरिसइ

(४) ईकारान्त धातुओं को 'ए' होता है।

नी = नेई = ले जाता है।

उड्डी = उड्डुई = उड्डीयते = उड़ता है।

(५) उपान्त्य स्वर को दीर्घ कर देते हैं।

रुष = रूसइ = रुष्ठ होता है।

तुष—तूसइ = तुष्ट होता है।

पुष = पूषइ पुष्ट होता है।

(६) एक स्वर के स्थान में दूसरा स्वर आ जाता है।

चिन = चिनइ = चुनइ = चुनता है।

रु = रुवइ = रोवइ = रोता है।

(७) धातु के अंतिम व्यञ्जन को द्वित्व होता है।

फुटइ = फुट्टइ = फूटता है।

तुट् = तुट्टइ = तोड़ता है।
लग् = लग्गइ = लगता है।
सक् = सक्कइ = सकता है।
कुप = कुप्पइ = कुपित होता है।
(८) संस्कृत (द्य) का ज्ज होता है।
संपद्यते = संपज्जइ = संपादित होता है।
खिद्यते = खिज्जइ = खिन्न होता है।

रूपावली

साधारणतया, धातु से[1] सामान्य वर्तमान में तृतीय पुरुष के बहुवचन में 'हिं' प्रत्यय विकल्प से होता है—जैसे करहिं, सहहिं, दूसरे पक्ष में "करंति" रूप भी होता है।

तृतीयपुरुष[2] एकवचन में 'इ' अथवा दि लगता है।

कुणइ, करदि, करइ,

द्वितीयपुरुष[3] के एकवचन में हि विकल्प से होता है—करहि दूसरे पक्ष में 'करसि' भी हो सकता है।

द्वितीयपुरुष के बहुवचन में 'हु' होता है 'इच्छहु' 'मग्गहु' पक्षान्तर में इच्छह भी होता है।

प्रथमपुरुष[4] के एकवचन 'उं' होता है, करउँ, धरउँ, दूसरे पक्ष में 'करिमि' होता है।

प्रथमपुरुष[5] के बहुवचन में 'हुं' होता है, लहहुं जाहुं। पक्षान्तर में—लहमु भी होता है।

इस प्रकार वर्तमान काल में निम्नरूप होते हैं।

---

१ त्यदादिराद्य त्रयस्य बहुत्वे हिं न वा २ मध्य त्रयस्यस्याद्यस्य हिः।
३ बहुत्वे हुः ४ अन्त्य त्रयस्याद्यस्य उँ ५ बहुत्वे हुँ।

	एकवचन	बहुवचन
प्रथमपुरुष—	करिमि, करउं,	करहुं, करिमु,
द्वितीयपुरुष—	करहि, करसि,	करहु, करह,
तृतीयपुरुष—	करइ, करेइ,	करहिं, करन्ति,

भविष्यकाल[1] के 'स्य' को अपभ्रंश में 'स' आदेश होता है। कहीं कहीं 'स' को 'ह' भी हो जाता है।

	एकवचन	बहुवचन
प्रथमपुरुष—	करेसमि करीहिमी, करिसु	करेसहुँ
द्वितीयपुरुष—	करेसहि करेससि करीहिसी	करेसहु करेसहो
तृतीयपुरुष—	करेसइ करेहइ	करेसहिं करेहिन्ति

आज्ञार्थ

अपभ्रंश[2] में आज्ञा के द्वितीयपुरुष में 'इ उ और ए' आदेश होते हैं।

इ = सुमरि, उ—विलम्बु, ऐ = करे,
सुमरो, ठहरो, करो,

प्रथम और तृतीय पुरुष में वर्तमान काल के ही प्रत्यय लगते हैं अपभ्रंश में संस्कृत की तरह आज्ञा और विधि में अन्तर नहीं है, इस लिए, आज्ञा के क्रिया रूपों का विधि में प्रयोग हो सकता है।

विध्यर्थ

	एकवचन	बहुवचन
प्रथमपुरुष—	करिज्जउ	किज्जउं
द्वितीयपुरुष—	करिज्जहि करिज्जइ	करिज्जहु

---

१ वर्त्यस्यति स्यस्य सः २ (हिस्वयोरिदुदेत्)

तृतीयपुरुष—करिज्जउ करिज्जंतु करिज्जहुं

भूतकाल में भूतकृदंन्त का ही प्रयोग होता है।

गय, किय, पइट्ठ इत्यादि।

कर्मणि प्रयोग के लिए इज्ज या इय लगाकर रूप बनाये जाते हैं।

इज्ज = गणिज्जइ, कहिज्जइ, वण्णिज्जइ

इय = फिट्टियइ, वण्णियइ,

कृदन्त

वर्तमान कृदन्त में अधिकतर परस्मैपद के प्रत्यय आते हैं, पर आत्मनेपद के प्रत्यय भी देखे जाते हैं।

पइसंत, करंत वज्जन्त कहन्त जंत उग्गमन्त, (परस्मैपद)

पविस्माण वट्टमाण आसीण (आत्मनेपद)

भूतकृदन्त = गय = गतः किय = कृतः धूमाविय, दिण्णा, पइट्ट, इत्यादि। विध्यर्थ कृदन्त[1] के लिए 'इएव्वउं' एव्वउं और एवा आदेश होते हैं।

करिएव्वउं, मरेव्वउं, सहेवा, सोएवा,

मरने दिया जाय = मरिएव्वउं देज्जइ

सब कुछ सहना पड़ता है = सव्वु सहेव्वउं होइ,

मुझे कुछ भी नहीं करना = मइु करिएव्वउं कंपि नांव।

पूर्वकालिक क्रिया[2] के लिए अपभ्रंश में आठ प्रत्यय होते हैं, हिन्दी में 'कर' जोड़ा जाता है, खाकर, पीकर, इत्यादि। संस्कृत में क्त्वा और ल्यप प्रत्ययों का विधान है।

उदाहरण के लिए कर धातु से निम्नलिखित रूप बनेंगे।

(१) कर + इ = करि (५) कर + एप्पि = करेप्पि

१ तव्यस्य इएव्वउएव्वउंएवाः २ क्त्वा इइउइविअवयः

(२) कर + इउ = करिउ
(३) कर + इवि = करिवि
(४) कर + अवि = करवि
(६) कर* + एप्पिणु = करेप्पिणु
(७) कर + एवि = करेवि
(८) कर + एविणु = करेविणु

क्रियार्थक क्रिया† के लिए भी अपभ्रंश में धातु के आठ रूप होते हैं, संस्कृत में 'तुम' लगाया जाता है, (गन्तुं भोक्तुं) हिन्दी में 'ना' लगता है, खाना जाना इत्यादि । पूर्वकालिकाक्रिया के अंतिम चार प्रत्यय (एप्पि एप्पिणु एवि और एविणु) क्रियार्थक क्रिया में भी प्रयुक्त होते हैं, शेष चार प्रत्यय ये हैं एवं, अण, अणहं और अणहिं । जैसे—

दा + एवं = देवं = देना
कर + अण = करण = करना
भुञ्ज + अणहं = भुञ्जणहं = भोगना
भुञ्ज + अणहिं = भुञ्जणहिं = भोगना
जि + एप्पि = जेप्पि = जीतना
जि + एप्पिणु = जेप्पिणु = जीतना
पाल + एवि = पालेवि = पालना
ला + एविणु = लेविणु = लेना
देवं दुक्करु णिअयधणु = अपना धन देना कठिन है ।

कर्तरिकृदन्त‡ शील धर्म और साध्वर्थ में अपभ्रंश में अणअ प्रत्यय आता है ।

हस + अणअ = हसणअ = हसणउ = हसनशील
भस + अणअ = भसणअ = भसणउ = भौंकनेवाला
वज्ज + अणअ = वज्जणअ = वज्जणउ = वादनशील

*एप्प्येप्पिण्वेव्येविणवः । †तुम एवमणाणहमणहिं च ‡तृणोणअः ।

धात्वादेश (देशीधातु)

अपभ्रंश में कुछ विशेष धातुओं का प्रयोग होता है, आचार्य हेमचंद ने संस्कृत धातुओं के स्थान पर इनका आदेश किया है। वस्तुतः ये देशी धातु हैं।

क्रिय = कीसु = वलि कीसु = वलि किज्जउं
भू = हुच्च = पहुच्चइ = प्रभवति (पर्याप्त अर्थ में)
ब्रू = ब्रुव = ब्रुवइ = ब्रूते (बोलता है)
व्रज = वुञ = वुञइ = व्रजति (जाता है)
दृश् = प्रस = प्रस्सदि = पश्यति (देखता है)
ग्रह = गृण्ह = गृण्हइ = गृह्णाति (ग्रहण करता है)

देशी

तक्ष्य = छोल्ल = छोल्लइ = तक्ष्यति (छीलता है)
झलक्क = झलक्कइ = (संतप्त होता है)
वंच = बंचइ = (जाता है)
खुडुक्क = खुडुक्कइ = (खुड़कता है)
घुडुक्क = घुडुक्कइ = (घुड़कता है)
भज्ज = भज्जइ = (भग्न करता है)
चम्प = चम्पइ = (चांपता है)
घुट्ठु = घुट्ठुअइ = (व्यर्थ शब्द करता है)

देशीशब्द

धातुओं की तरह अपभ्रंश में कुछ शब्दों का क्रियाविशेषण तथा संज्ञा की तरह प्रयोग होता है। इन शब्दों के विकास का सूत्र संस्कृत से बहु कम जोड़ा जा सकता है।

क्रियाविशेषण

वहिल्लउ[1] = शीघ्र, 'अन्नु वहिल्लउ जाहि' = दूसरा, शीघ्र चला जाता है।

निबट्टु = नीचट (प्रगाढ़) जो 'लग्गइ निबट्टु' जो खूब नीचट लगता है।

कोड्डु = कौतिक 'कुड्डेण घल्लइ हत्थि' = कौतुक से हाथ घालता है।

ढक्करि = अद्भुत

दड़बड़ = शीघ्र जल्दी,—'दड़बड़ होइ विहाणु' = शीघ्र सबेरा हो जायगा।

छुड्डु = यदि = 'छुडु अग्घइ ववसाउ' = यदि काम मिल जाय।

जुअंजुअ = अलग अलग = 'पक्खहं वि जुअंजुअ बुद्धी'।

सम्बोधन

हेल्लि = हे सखी — हेल्लि म झंखहि आलु ?
हे सखी झूठ मत बोलो ?

विशेषण

विट्टालु = नीच संसर्ग

अप्पणु = आत्मीय

सड्ढलु = असधारण

रवण्ण = सुंदर

नालिअ } = मूर्ख
वढ }

नवख = नया विचित्र

संज्ञा

द्रवक = भय

---

१ शीघ्रादीनां वहिल्लादयः।

घंघल = झगड़ा

जाइट्ठिया = यद्यद्दष्टं तत्तत् "जो जो देखा वह" इस पूरे वाक्य का एक शब्द की तरह प्रयोग होता है।

'जइ रच्चसि जाइट्ठिए' = यदि जो जो देखा उसमें रमते हो ?

मब्भीसा = मा भैषीः—'डरोमत' इस पूरे वाक्य का एक शब्द की तरह प्रयोग, जैसे—

'आदन्नहं मब्भीसड़ी जो सज्जणु सो देइ'

जो आर्तजनों को अभय देता है वही सज्जन है।

सम्बन्धी[1] के अर्थ में केर और तण प्रत्यय होते हैं।

केर = जसु केरउं हुंकारडएं = जिसकी हुंकार के द्वारा।

तण = अह भग्गा, अम्हहं तणा = यदि भग्न हुई तो हमारी।

शब्द[2] चेष्टा और अनुकरण के अर्थ में हुहुरु घुग्घु कसरक्क, और 'उट्ठबईस' आदि शब्दों का प्रयोग होता है।

शब्दानुकरण = 'हउं पेम्मद्रहि हुहुरुत्ति वुड्डीसु = मैं प्रेम समुद्र में हहरकर डूबूंगी।

खज्जइ नउ कसरक्केहिं, "कसर कसर कर नहीं खाया जाता"

चेष्टानुकरण—मक्कडु घुग्घिउ देइ = बंदर घुड़की देता है। मुद्धए उट्ठबईस कराविआ = मुग्धा के द्वारा उठाबैठक करवाई जाती है।

'घइं'[3] आदि शब्दों का अनर्थक प्रयोग होता है। घइं विवरीरी बुद्धड़ी होई विनासहो कालि" विनाशकाल आने पर बुद्धि उल्टी हो जाती है। यहाँ 'घइं' शब्द व्यर्थ प्रयुक्त हुआ है।

---

१ सम्बन्धिनः केरतणौ २ हुहरु घुग्घादयः शब्दचेष्टानुकरणयोः।

३ घइमादयोऽनर्थकाः।

अपभ्रंश और हिन्दी

भाषाविकास की दृष्टि से आधुनिक भारतीय आर्य भाषाओं की पूर्वज अपभ्रंश ठहरती है, अतः उनपर अपभ्रंश की प्रवृत्ति और प्रकृति का प्रभाव पड़ना स्वाभाविक है, इस दृष्टि से आधुनिक गुजराती भाषा और साहित्य की धारा, अपभ्रंश भाषा और साहित्य से अविच्छिन्नरूप से मिली हुई है, इसका मुख्यकारण गुजरात की तत्कालीन राजनीतिक परिस्थिति ही हैं, गुजराती की तरह हिन्दीभाषा और साहित्य का अपभ्रंश से धारावाहिक संबन्ध पूरा-पूरा नहीं मिलता, तो भी उनके विकास में अपभ्रंश की छाप अवश्य है, अपभ्रंश अपने समय में गुजरात से लेकर बंगाल तक फैली हुई थी, अतः आधुनिक युग की कोई भी भारतीय आर्य भाषा, उसके प्रभाव से सर्वथा अछूती नहीं रह सकती।

आधुनिक हिन्दी की प्रवृत्ति तत्सम शब्दों के ग्रहण की ओर अधिक है। अतः ध्वनिसम्बन्धी परिवर्तन अधिक नहीं मिलते। पर व्याकरण-शैली और शब्दरूपों पर अपभ्रंश की छाप स्पष्ट है। जिनबातों के लिए हिन्दी पर विदेशी प्रभाव सिद्ध किया जाता है, वे उसे अपनी पूर्वजभाषा अपभ्रंश से मिली है। यद्यपि इन दोनों के बीच की कड़ी अवहट्ट अवश्य है, पर अपभ्रंश का व्याकरण निश्चल और व्यवस्थित होने से हिन्दी के विकास सूत्र को समझने में उससे बड़ी सहायता मिलती है।

आधुनिक हिन्दी की मुख्य प्रवृत्ति आकारान्त है यह प्रवृत्ति अपभ्रंश में भी विरल नहीं थी।

'स्वराणां स्वराः प्रायोऽपभ्रंशे' इस नियम के अनुसार अपभ्रंश में इकारान्त और उकारान्त शब्दों के अकारान्तरूप हो जाते हैं। जैसे—बाहु शब्द का बाह और बाहा, अपभ्रंश उकार बहुला थी, पर उसकी प्रभाव सीमा में अकारान्त शब्दों की भाषा भी थी, और उसके शब्द अपभ्रंश में प्रचुरता से आते थे, 'भल्ला हुआ जु मारिया बहिणी हमारा कन्तु' आदि उदाहरणों में यह प्रवृत्ति स्पष्ट दिखाई देती है। स्पष्ट है, कि यह प्रवृत्ति हिन्दी में उर्दू से नहीं आई।

(२) आचार्य हेमचंद ने अपभ्रंश में प्रयुक्त होने वाले ह्रस्व एकार और ओकार का उल्लेख किया है। खड़ी बोली में यद्यपि इनका व्यवहार नहीं है पर उसकी कई बोलियों में ह्रस्व एकार ओकार पाए जाते हैं। अपभ्रंश से उनका क्रम ठीक बैठ जाता है। आधुनिक हिन्दी में ह्रस्वादेश की प्रवृत्ति है, अपभ्रंश में भी यह प्रवृत्ति थी, तेण का तिण इसी का सूचक है।

(३) कारक रचना में आधुनिकहिन्दी वियोगावस्था में है जब कि अपभ्रंश संयोगावस्था में थी। तो भी उसमें वियोगावस्था के छिटफुट उदाहरण मिलते हैं। सम्बन्धी के अर्थ में होने वाले केर और तण प्रत्यय तथा तादर्थ्य के बोधक शब्दों का प्रयोग यही सूचित करता है, प्राकृतों की अपेक्षा अपभ्रंश में विभक्तिचिह्न कम हैं कर्ता कर्म और सम्बन्ध की विभक्तियों का लोप व्यापक था। अवहट्ट में यह प्रवृत्ति और बढ़ी, आधुनिक भाषाओं की वियोगावस्था के लिए—यह स्थिति पूर्वपीठिका का काम करती है।

सर्वनाम हिन्दी के अधिकांश सर्वनामों का सम्बन्ध अपभ्रंश से सीधा जोड़ा जा सकता है। मइं=मैं, अम्हे=हम, तुम्ह=

तुझ, तुम्हे, तुम, ओइ=(अदसः ओइ) वो वह, जो सो, सु, आदि का अपभ्रंश से सीधा सम्बंध है, संस्कृत और प्राकृत से इनका कोई साम्य नहीं, इसीप्रकार हिन्दी के सम्बंधसूचक हमारा तुम्हारा अपभ्रंश हमार तुमार से बने। गुण और प्रश्न वाचक सर्वनामों—जैसा (जइस) तैसा (तइस) ऐसा (अइस) कौन (कवण) में तत्त्वतः अधिक भेद नहीं है।

(५) हिन्दी ही नहीं आधुनिक आर्यभाषाओं के सम्बंध के परसर्ग का विकास अपभ्रंश से हुआ है। केर और तण को विभक्त करने से उनका विकास हुआ।

(६) 'दिन दहाड़े मुखड़ा क्या देखे दर्पण में' दुखड़ा आदि में दिखनेवाली 'ड़' की प्रवृत्ति—अपभ्रंश के स्वार्थिक प्रत्यय 'डड' की ही झलक है, राजस्थानी और मारवाड़ी में यह प्रवृत्ति सबसे अधिक है। बड़प्पन का पन भी अपभ्रंश के प्पणु का विकसित रूप है, हिन्दी के स्त्रीलिंग में ईकारान्त या आकारान्त करने की प्रवृत्ति—अपभ्रंश से आई, अपभ्रंश में गोरड़ी और धूलड़िआ दोनों रूप मिलते हैं।

(७) हिन्दी के कृदन्त और शब्दों में लिंग की अव्यवस्था अपभ्रंश की परम्परा से ही प्रभावित है। अपभ्रंश में लिंग अव्यवस्थित था, उसका कोई अनुशासन नहीं था के। उदाहरण के लिए कुम्भ का कुम्भइं, अभ्र का अब्भा, अन्त्रं का अतड़ी और डाली का डालइं हो जाना साधारण बात थी। कृदन्त और विशेषण विशेष्य में लिंग और वचन की जो कट्टरता संस्कृत में थी, वह अपभ्रंश में नहीं रही। स्त्रीलिंग का विशेषण होने पर भी कृदन्त में लिंग नहीं है जैसे—तुह विरहग्गि किलकन्त—तुम्हारी

विरहाग्नि में तड़फती हुई,। यहाँ नियमानुसार किलकन्ती रूप होना चाहिए था।

(८) पूर्वकालिक और क्रियार्थकक्रिया के रूपों में पुरानी और नई हिन्दी में अपभ्रंश का प्रभाव है। पुरानी हिन्दी के उठि चलि करि आदि रूपों में अपभ्रंश का 'इ' प्रत्यय स्पष्ट देख पड़ता है, करिउ, चलिउ, आदि भी 'इउ' से ही बने हैं, अपभ्रंश में पूर्वकालिक क्रिया के लिए आठ प्रत्यय हैं। उनमें इ और इउ भी हैं। हिन्दी की क्रियार्थकक्रिया में चलना करना आदि में अपभ्रंश क्रियार्थक क्रिया का 'अण' साफ झलकता है। चलण करण अपभ्रंश के रूप हैं, 'ण' का न और आकारान्त प्रयोग करना हिन्दी की अपनी प्रवृत्ति है, अतः चलना आदि रूप बनते हैं। पूर्वकालिक क्रिया में कर लगता है, जैसे—खाकर उठकर आदि। यह रूप अपभ्रंश 'करि' से ही निकला जान पड़ता है। इकारान्त का अकारान्त होना हिन्दी के स्वभाव के अनुकूल है।

(९) आधुनिक हिन्दी के क्रिया रूपों में भूत और वर्तमान में कृदन्त और सहायक क्रिया का प्रयोग होता है, अपभ्रंश में वर्तमान में कृदन्त और तिङ् दोनों का प्रयोग था। पर भूत के लिए कृदन्त का ही प्रयोग होता था। जैसे—"जे महु दिण्णा दिहअड़ा" "नाइ सुवण्ण रेह कसवट्टइ दिण्णी" इत्यादि। आधुनिक तिङ्क में लिङ्ग के आने की कहानी इसी प्रवृत्ति से जुड़ी हुई है। हिन्दी 'कीजिए दीजिए' से अपभ्रंश के किज्जइ दिज्जइ, की पूरी समानता है। इसके अतिरिक्त कई हिन्दी क्रियाएं अपभ्रंश की मूल क्रियाओं से बनी हैं। संस्कृत और प्राकृत से उनका सम्बन्ध जरा भी नहीं।

(१०) पिछली प्राकृत परम्परा की अपेक्षा अपभ्रंश का तत्सम शब्दों और व्यञ्जनप्रयोग की ओर अधिक झुकाव रहा है।

इस बात को लक्ष्य करते हुए राजशेखर कहता है "ससंस्कृत मपभ्रंशं लालित्यस्यालिंगितं पठेत्" इससे स्पष्ट है कि अपभ्रंश पर संस्कृत का प्रभाव उत्तरोत्तर अधिक पड़ रहा था। अपभ्रश में 'ऋ' का उपयोग भी इसी प्रवृत्ति का सूचक है। विद्यापति की कीर्तिलता में संस्कृत का मिश्रण खूब है।

इन समानताओं की साक्षी पर यह सुनिश्चित है कि हिन्दी भाषा के विकास को समझने के लिए अपभ्रंश की जानकारी अपेक्षित है। हिन्दी भाषा ही नहीं, साहित्य पर भी अपभ्रंश का अमित प्रभाव पड़ा है। प्रारम्भिक हिन्दी के छंदों साहित्य-शैली और अन्य-उपादानों पर यह प्रभाव अलक्ष्य नहीं किया जा सकता, आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी उसे अपभ्रंश का उत्तर-कालीन विकास मानते हैं, कुछ भी हो अपभ्रंश और हिन्दी के प्रारम्भिकसाहित्य के तुलनात्मक अध्ययन से बहुत सी भ्रान्तियाँ तो दूर होगीं ही, साथ ही, बीच की छूटी हुई धारा भी मिल जायगी।

हिन्दी सर्वनाम

ऊपर हिन्दी और अपभ्रंश के सर्वनामों के विषय में स्थूल संकेत किया जा चुका है। बहुत से विद्वान् हिन्दी सर्वनामों का सम्बन्ध सीधा संस्कृत से जोड़ते हैं पर यह बहुत दूर की कल्पना है, भाषा विकास की दृष्टि से किसी परवर्ती भाषा का विकाससूत्र उसकी पूर्वज भाषा में होता है, इसलिए, अपभ्रंश से ही हमें हिन्दी के विकास के अध्ययन को शुरू करना चाहिए। हिन्दी सर्वनामों का अपभ्रंश से सीधा सन्बंध है।

मैं—का संस्कृत के अहं और मया से सम्बंध नहीं है, अपभ्रंश में कर्म करण और अधिकरण में 'मइं' होता है 'मइं जाणिउं'—

यह कर्मणि प्रयोग है। इसी मइं से मैं का विकास हुआ। डाक्टर सुनीतकुमार 'मैं' के 'अनुनासिक' में 'एन' का प्रभाव मानते हैं। संस्कृत और प्रकृत का कर्म वाच्य हिन्दी में कर्तृ वाच्य बन जाता है, अतः 'मैं' का कर्तरि प्रयोग असम्भव बात नहीं।

मुझ—अपभ्रंश में अपादान और सम्बंध के एक वचन में 'महु और मज्झु' रूप होते हैं,—मज्झु से तुज्झ के सादृश्य (Anology) पर हिन्दी मुझ निकला है। पुरानी हिन्दी में 'मझ' रूप भी उपलब्ध है।

हम—अपभ्रंश में कर्ता और कर्म के बहु वचन में 'अम्हे अम्हइं' रूप बनते हैं! अम्हे से आदि 'अ' का लोप और वर्णविपर्यय के द्वारा 'हम' रूप सिद्ध होता है। संस्कृत के 'वयं' से हिन्दी के 'हम' का कोई सम्बंध नहीं।

हौं—कर्ता के एक वचन के 'हउं' से निकला है, ब्रज में इसका इसी अर्थ में प्रयोग खूब उपलब्ध है।

'तूं'—का विकास 'तुहुं' और संस्कृत त्वम् से माना जा सकता है, 'तुहुं' में 'ह' का लोप और संधि करने से तूं बनता है, अथवा 'त्वम्' के 'व' का सम्प्रसारण करके तुम् और उससे फिर तूं रूप हुआ!

तैं—ब्रज का तैं सीधे अपभ्रंश के तइं से निकला है।

तुम—का सम्बंध तुम्हे से हैं। यह अपभ्रंश के कर्ता और कर्म के बहु वचन का रूप है। संस्कृत के 'यूयं' से इसका कोई सम्बंध नहीं।

तुझ—अपभ्रंश के अपादान और सम्बंध के एक वचन में 'तुज्झ रूप होता है, इसी तुज्झ से 'तुझ' रूप निकला।

हमारा तुम्हारा—सम्बंध विशेषण के अर्थ में, युस्मत् और

अस्मत् से संस्कृत में युस्मदीय और अस्मदीय बनते हैं, अपभ्रंश में इसके लिए तुम्ह अम्ह शब्दों से 'डार' प्रत्यय लगता हैं, 'डार' के 'ड' का लोप करने पर तुम्हार हमार रूप बनते हैं 'हेम तुम्हारा कर मरउं' में यह रूप दिखाई देता है, आधुनिक हिन्दी की आकारान्त प्रवृत्ति होने से तुम्हारा हमारा रूप बनते हैं। इन्हीं के सादृश्य पर तेरा मेरा रूप समझना चाहिए!

वे वह ये यह—हिन्दी में अन्यपुरुष का काम निर्देशवाचक सर्वनामों से लिया जाता है। डाक्टर धीरेन्द्र वर्मा ने वह और यह की व्युत्पत्ति अनिश्चित मानी है। आपका मत है कि इनका विकास अपभ्रंश के किसी असाहित्यिक शब्द से हुआ होगा। पर अपभ्रंश में अदस् शब्द को कर्ता के बहुवचन में 'ओइ' आदेश होता है। इ का लोप और व श्रुति करने पर 'वो' रूप बनता है That के अर्थ में, जो अब भी प्रयुत है।

वो=से 'ह' श्रुति (Glide) करने पर वह रूप बनता है। इसी प्रकार एतद् शब्द को 'एइ' आदेश होता है। 'इ' का लोप और 'य' श्रुति करने पर ये·रूप स्वतः सिद्ध है 'वह' के सादृश्य पर 'यह' रूप भी कल्पित कर लिया गया जान पड़ता है। भाषाविकास में प्रायः एक रूप के सादृश्य पर उसके अनुरूप अन्य रूपों की कल्पना कर ली जाती है।

किसका, इसका, उसका जिसका का असु, जसु, कसु, आगे से विकास हुआ है। अपभ्रंशकाल तक ये पद थे, आदि आधुनिक भाषा काल में उनसे परसर्ग लगाकर विभक्ति का निर्देश किया जाने लगा।

जो सो—सम्बन्ध वाचक, जो और सो की व्युत्पत्ति अपभ्रंश जु और सु से स्पष्ट है। अपभ्रंश में दोनों का प्रयोग मिलता है।

'तं बोल्लिअइ जु निव्वहइ', "जो मिलइ सोक्खहं सो ठाउं"

कौन प्रश्नवाचक कौन, 'कवण' से सम्प्रसारण और गुण करने पर बनता है।

आप का विकास अप्पाणु से हुआ। "आपण पइ प्रभु होइअइ" में आप विद्यमान है।

जैसा तैसा ऐसा कैसा इन गुणवाचक सर्वनामों का विकास सीधा, अपभ्रंश के जइस, तइस, अइस और कइस से सम्बन्ध रखता है। संस्कृत यादृश् तादृश् ईदृश् और कीदृश् से इनका कोई सरोकार नहीं। अ + इ = ए होता है, तथा हिन्दी की प्रवृत्ति आकारान्त है, अतः जैसा प्रभृति रूप सिद्ध हो जाते हैं।

अङ्गरूप और परसर्ग

हिन्दी में संस्कृत के बराबर कारक हैं पर उसमें संयोगात्मक रूप नहीं हैं, संस्कृत में आठ कारक तीन लिङ्ग और वचन के भेद से एक शब्द के चौबीस रूप होते हैं, हिन्दी में द्विवचन और नपुंसक लिङ्ग का अभाव है। द्विवचन, पाली प्राकृत और अपभ्रंश में भी नहीं था, संस्कृत में षष्ठी विभक्ति व्यापक थी, अन्य कारकों का भी यथासंभव आपस में विनियम होता था, प्राकृतकाल में आकर यह प्रवृत्ति और बढ़ी, अपभ्रंश में कर्ता कर्म और सम्बन्ध की विभक्तियों का लोप सामन्य बात थी, अवहट्ट काल में विभक्तियों का और भी ह्रास हुआ, विद्यापति ने कीर्तिलता में कुल आठ विभक्तियों का व्यवहार किया है, भाषाविज्ञानियों का कथन है कि विभक्तिरहित शब्दों का व्यापक प्रयोग होने से अर्थ में सन्देह होने लगा अतः संज्ञा और सर्वनामों में ऊपर के शब्द जोड़कर विभक्ति का काम लिया जाने लगा, इन्हें

प्रत्यय या विभक्ति नहीं कहा जा सकता। क्योंकि विभक्ति और प्रत्यय सीधे प्रकृति से लगाए जाते हैं, अतः इन्हें परसर्ग कहना ही उचित है, अधुनिक आर्य भाषाओं में यह सर्वथा नया विकास है। अंग्रेजी में इन्हें Post Position कहते हैं। हिन्दी के अनुसार 'घोड़ों ने' इस पद में 'घोड़ा' प्रकृति है, उससे कर्ता के बहुवचन में 'ने' परसर्ग लगाकर 'घोड़ों ने' रूप बनाया जाता है। 'घोड़ों' यह, 'घोड़ा' का विकारी या अङ्गरूप है। विभक्ति में प्रत्यय, प्रकृति का अङ्ग बन जाता है पर 'घोड़ों ने' में यह बात नहीं, भाषा विज्ञान की दृष्टि से दोनों को पृथक् लिखना ही उचित है। विद्वानों की कल्पना है कि यह षष्ठी का ही विकारीरूप है। हिन्दी सर्वनामों में यह षष्ठयन्तरूप साफ दीख पड़ता है। 'उसने रोटी खाई', 'उसको दे देना', 'किसे खोजते हो', इत्यादि वाक्यों में उस, इस और किस अंगरूप हैं, संस्कृत में इदम् और किम् शब्द से सम्बन्ध के एकवचन में अस्य और कस्य रूप होते हैं, पाली और प्राकृत में कस्स और किस्स अस्स और इस्स हो जाते हैं, प्राकृत में इनसे सम्बन्ध की प्रतीति होती है, हिन्दी में नहीं होती, फलतः 'का' परसर्ग जोड़कर सम्बन्ध की प्रतीति कराई जाती है, इस प्रकार हिन्दी में किसका इसका आदि पद (Morpheme) बनते हैं। 'किस' की भांति 'घोड़ों' भी षष्ठ्यन्त रूप समझना चाहिए। 'घोटकानां' का बहुत कुछ अंश घोड़ों में सुरक्षित है, 'राजपूताना' 'राजपूतानां' का ही शेष रूप है, 'घरों से' में घरों गृहाणां का विकारी रूप है, कहने का अर्थ षष्ठी व्यापक विभक्ति है, अतः वर्तमान हिन्दी में संज्ञा के अङ्ग रूप में विभक्तिचिह्न लगाकर पद बनाया जाता है, ये चिह्न परसर्ग कहलाते हैं, इन्हें विभक्ति कहना ठीक नहीं, क्योंकि विभक्ति

के बाद दूसरी विभक्ति नहीं लगती। अंग्रेजी में Back of the Horse कहकर सम्बन्धबोध कराया जाता है। इन परसर्गों का प्रयोग अव्यय के समान होता है, लिंग वचन और विभक्ति के भेद से उनमें कोई विकार नहीं होता। सीता ने, राम ने, में 'ने' ज्यों का त्यों रहता है। इससे संज्ञा के, रूप में बहुत कुछ सरलता आ गई। इसी प्रकार अंग रूप के समूचे कारकों में तीन चार से अधिक रूप नहीं होते, आकरान्त राम शब्द कर्ता के दोनों वचनों और अन्य कारकों के, एकवचन में राम ही रहता है, शेष कारकों में 'रामों' अङ्गरूप का उपयोग होता है। सम्बोधन में रामो होता है। आकारान्त घोड़े का एकवचन घोड़े, बहुवचन में घोड़ों और सम्बोधन में घोड़ो रूप होता है। आकारान्त स्त्रीलिङ्ग बाला शब्द के बाला, बालाएं बालाओं और बालाओ रूप बनते हैं। ईकारान्त के घड़ियाँ और घड़ियों अंग रूप बनते हैं, नीचे के विवरण से यह और स्पष्ट हो जायगा।

	एकवचन	बहुवचन
राम—कर्ता	राम जाता है	राम जाते हैं
कर्म	राम को	रामों को
घोड़ा—कर्ता	घोड़ा दौड़ता है	घोड़े दौड़ते हैं
कर्म	घोड़े को	घोड़ों को
बाला—कर्ता	बाला जाती है	बालाएं जातीं हैं
कर्म	बाला को	बालाओं को
घड़ी—कर्ता	घड़ी अच्छी है	घड़ियां अच्छी हैं
कर्म	घड़ी को	घड़ियों को

हिन्दी परसर्गों का विकास किन शब्दों से हुआ, इसकी ठीक विकासरेखा नहीं खींची जा सकती। क्योंकि कोई भी भाषा,

परिवर्तन काल में, जब नया रूप ग्रहण करती है तो उसमें निश्चित हेतु नहीं होता, लोक में जो रूप चल पड़ते हैं, आगे वही उसकी रूपसम्पत्ति बन जाते हैं. भाषाविज्ञानी का काम केवल इस बात की छानबीन करना है कि कौन रूप किस रूप के निकट है ? हिन्दी के परसर्गों की कहानी बहुत कुछ अ स्पष्ट है।

ने—संस्कृत प्राकृत में कर्ताकारक में खास परिवर्तन नहीं होता पर खड़ी बोली में सकर्मक क्रिया के सामान्यभूत में 'ने' का चिह्न लगाना आवश्यक है। बिना इसके, कर्ता का बोध नहीं होगा। इस 'ने' की व्युत्पत्ति अनिश्चित है, बीम्स इसे कर्मणिप्रयोग मानते हैं। ट्रम्फ आदि विद्वान् संस्कृत 'एन' (करण) से विकास मानते हैं। हार्नली का मत है कि ब्रज और मारवाड़ी में सम्प्रदान के लिए—क्रमशः मैं को और नौं, ने, आते हैं। सम्भव है, 'ने' सम्प्रदान में अप्रयुक्त समझ कर सप्रत्यय कर्ता या करण के लिए ले लिया गया हो, संस्कृत का कर्मणिप्रयोग हिन्दी में कर्तरिप्रयोग हो जाता है। इस प्रकार 'ने' कर्ता का चिह्न बन गया।

को—कर्म और सम्प्रदान दोनों में प्रयुक्त है। 'चाहिए' क्रिया के साथ भी इसका प्रयोग होता है। "उसको चाहिए ?" प्रो० ट्रम्फ इसका विकास 'कृत' से मानते हैं। हार्नली और बीम्स ने कक्ष से माना है, डा० चटर्जी जी भी यही मानते हैं। डा० सत्यजीवन वर्मा केरक से 'को' का विकास स्वीकार करते हैं, पर यह क्लिष्ट कल्पना है। कक्ष से कक्ख, कहं, 'कं' को रूप विकसित हो सकता है।

से—करण और अपादान दोनों में आता है। कुछ लोग 'संतो' से इसका विकास मानते हैं, और कुछ अवधी के 'सन्' से। वस्तुतः सम = सन् = सौं = से—यह विकास क्रम मानना अनुपयुक्त नहीं।

में—अधिकरण का चिह्न है। संस्कृत मध्ये से मज्झे मज्झि, महि, में, यही विकासक्रम ठीक हैं। सम्बंध को छोड़कर प्रायः सभी कारकों के परसर्ग, हिन्दी में अव्यय की तरह प्रयुक्त हैं।

का, के, की—हिन्दी के सम्बन्ध का चिह्न विशेष्याधीन है, अतः उसमें लिंग के अनुसार परिवर्तन होना स्वाभाविक है। भेद्य और विशेष्य में भेदक और विशेषण से काम चलाया जाता है।

'काले घोड़े दौड़ते हैं'

काला घोड़ा दौड़ता है।

इन उदाहरणों में व्याकरणिक लिंग है। 'राम का घोड़ा' दूसरे से अपना भेद करता है, अतः उसमें विशेषण है, यह विशेषण Logical है, पहला विशेषण है, और दूसरा भेदक। इस प्रकार सम्बंध के विशेष्यनिघ्न होने से, उसमें लिंग आना स्वाभाविक है। राम की पुस्तक और राम का घोड़ा विशेष्य निघ्न होने से, उनमें लिंग वर्तमान है। इनका विकास बड़ा रोचक है। सम्बंधी के अर्थ में प्राकृत में केरक और अपभ्रंश में केर और 'तण' प्रत्यय लगते हैं।

कस्स केरकं इदं पवहणं ? यह किसका रथ है ?

तुज्झ वप्प केरको ? तुम्हारे बाप का है ?

पहले उदाहरण में 'केरक' अलग है और उसमें विशेष्य 'प्रवहण' के अनुसार लिंग है, दूसरे वाक्य में दोनों मिले हुए हैं ? पहले उदाहरण में 'केरक' विशेष्यनिघ्न है। अपभ्रंश में सम्बंध के अर्थ में केर और तण प्रत्यय आते हैं। केर से पश्चिमीअवधी में 'रामकेर' बनता है और पूर्वी अवधी में रामकर, ओकर तोकर आदि रूप भी होते हैं। राम शब्द से 'क' आता है।

जैसे—

"राम क चिड़िया राम क खेत
खालो चिड़िया भर भर पेट"

बंगला में 'रामेर' होता है, यह रामकेर का ही विकास है। कर के दो टुकड़े क और र हुए। इनमें 'क' का खड़ीबोली में और 'र' का राजस्थानी में प्रयोग है, विशेष्यनिघ्न होने से भेद्य के अनुसार इनका लिंग होगा, हिन्दी में 'का के की' और राजस्थानी में रा रे री होते हैं।

तण के दो टुकड़े त और ण हुए। शौरसेनी प्राकृत में त को द होता है तथा द और ज का आपस में विनिमय होता है, जैसे—गजाधर और गदाधर। इस प्रकार 'ज' सिंधी भाषा में सम्बंध के अर्थ में प्रयुक्त होता है—

मोहें जो दड़ो—'मरे हुओं का टीला'

त का च होकर महाराष्ट्री में सम्बंध के अर्थ में प्रयुक्त होता है राम च पुस्तक, इत्यादि। ण 'न' होकर गुजराती के सम्बंध का चिह्न बनता है प्रायः सभी आधुनिक आर्य भाषाओं के सम्बंध के चिह्न केर और तण से विकसित हुए जो कि अपभ्रंश के सम्बंध कारक में आते हैं।

लिंग हिन्दी लिंगानुशासन के अव्यवस्थित होने के तीन कारण हैं एक तो अपभ्रंश की परम्परा से लिंग में अव्यवस्था उत्पन्न हुई। दूसरे हिन्दीगद्य की अपेक्षा उर्दूगद्य का विकास पहले हुआ। उर्दू में, आग का वाचक आतिश शब्द स्त्रीलिंग है, उसी के सादृश्य पर—हिन्दी में संस्कृत का अग्नि शब्द पुलिंग से स्त्रीलिंग हो गया। हिन्दी विशेषण और कृदन्त में लिंग की शिथिलता अपभ्रंश के माध्यम से आई। अपभ्रंश में तीन लिंग थे, पर हिन्दी में दो ही लिंग हैं पंजाबी राजस्थानी और सिंधी में भी दो ही हैं, मराठी

गुजराती और सिंहली में तीन लिंग हैं, अनार्य प्रभाव अधिक होने से बंगला आसामी और उड़िया में लिंग भेद अधिक नहीं है। नपुंसकलिंग कम हो जाने से, उसकी व्यवस्था स्त्रीलिंग और पुलिंग शब्दों के भीतर की गई. इससे भी अव्यवस्था हुई। प्राकृतिकलिंग सभी भाषाओं में समान है, भेद केवल व्याकरणिक लिंग की दृष्टि से दिखाया गया है।

आख्यात में लिंग नहीं होता, संस्कृत के आख्यात में लिंग नहीं है, 'रामो गच्छति' और सीता गच्छति" दोनों में 'गच्छति' ज्यों का त्यों है। हिन्दीआख्यात में लिंग, कर्ता के अनुसार होता है। "राम जाता है, और सीता जाती है।" इसका मुख्य कारण आधुनिकहिन्दी में आख्यात का प्रयोग न होकर कृदन्त और सहायक क्रिया का प्रयोग होना है। अपभ्रंश धातुओं के विकास का विचार करते हुए हम देख चुके हैं कि किस प्रकार संस्कृत के धातुरूपों में उत्तरोत्तर कमी होती जा रही थी, काल कम होने से कृदन्त का प्रयोग बढ़ने लगा था। वैदिक संस्कृत में भूतकाल में क्रिया के तिङन्त रूप ही आते हैं।

गतः तेन कृतम्—आदि रूप, वैदिक संस्कृत में विरल हैं, आगे चलकर लौकिक संस्कृत में ये निष्ठारूप क्रिया का काम देने लगे। सः कृतवान्, अहं कृतवान् सः कृतवती आदि रूपों से क्रियारूप में सरलता हो गई, और भूतकालिक क्रिया का प्रयोग कम होने लगा, इस प्रकार धातुज भूतकृदन्त (Pastparticiple) से भूतकालिक क्रिया बनाने को वैयाकरण 'कृदभिहित आख्यात' कहते हैं, यह क्रियाविकास की पहली सीढ़ी थी, दूसरी सीढ़ी में वर्तमानधातुज कृदन्त भी (Present participle) क्रिया का काम देने लगे। यह प्राकृत से अपभ्रंश बनने के समय

हुआ। अपभ्रंश युग की संस्कृत में वर्तमानकृदन्त धातु की तरह प्रयुक्त होने लगे जैसे—अहमापृच्छअस्मि = मैं पूछना चाहता हूँ, संस्कृत में वह जाता है का कृदन्त रूप होगा।

	सः	यात	अस्ति
प्राकृत	ओ	जात	अत्थि
पंजाबी—	ओ	जान्दा	आइ

प्रस्तुत उदाहरण में 'यातः' 'स' कर्ता का विशेषण है, अतः उसके अनुसार ही उसमें लिंग और वचन होगा। अस्ति सहायक क्रिया की तरह प्रयुक्त है। संस्कृत में काल का परिज्ञान क्रिया में प्रत्यय लगाकर कराया जाता है और हिन्दी में सहायक क्रिया द्वारा। 'है' हिन्दी में शुद्ध धातु का रूप है। अतः उसमें लिंग नहीं है, राम जाता है, और सीता जाती है, दोनों में 'है' समान ही है। इसी प्रकार आज्ञा और विधि के रूप भी शुद्ध क्रियापरक रूप हैं, इस लिए उनमें लिंग का झगड़ा नहीं है।

हिन्दी सहायक क्रियाएं

है—अस्ति से विकसित हुआ, स्वरभक्ति द्वारा 'अस्ति' का असति और त का लोप करने पर 'असइ' हुआ। 'स' 'ह' में बदलता है, अतः 'अहइ' रूप हुआ, अहइ से अहै और आदि 'अ' का लोप होने पर 'है' रूप सिद्ध होता है।

था भू धातु के भूतकृदन्त 'भूतः' से निकला है। 'भूत के 'भुअ' और 'हुअ' रूप होते हैं। दूसरे; भूत का हुत भी होता है। महाकवि सूर और जायसी ने इसका प्रयोग किया है, हुत का हत, और हत से हता, हता से ता को महाप्राण और 'ह' का लोप करने पर था रूप बनता है। हता के त का लोप और उच्चारण की सुविधा से संधि करने पर 'ह हे हो' आदि रूप भी बनते हैं—घनानंद

आदि कवियों ने इन रूपों का प्रयोग किया है भूत कृदन्त से विकास होने से ही, था थे थी रूप होते हैं। कुछ विद्वानों ने 'स्था' से इसका विकास माना है, पर यह ठीक नहीं।

गया गतः इस भूतकृदन्त से बना है। त का लोप, य श्रुति और हिन्दी की प्रवृत्ति के अनुसार दीर्घ करने पर 'गया' रूप सिद्ध होता है। ब्रज में गयो और अवधी में गवा रूप बनते हैं।

गा गे गी की व्युत्पत्ति विवाद ग्रस्त है। कुछ विद्वान् 'चलितुं गतः' से इनका विकास मानते हैं, पर यह असंगत इसलिए जान पड़ता है कि भूतकाल के क्रियारूप से भविष्य का बोध किसी प्रकार सम्भव नहीं है। प्राकृत और अपभ्रंश मे भविष्य में 'ज्ज' का प्रयोग होता है, वर्तमान आज्ञा और विधि में भी इसका व्यवहार है। हसेज्ज=हंसेगा।

'ज' और 'ग' का विनिमय होता है जैसे भाजना भागना, भीजना भीगना इत्यादि। इस नियम से एक 'ज' का लोप और दूसरे 'ज' को ग करने पर—हंसेगा रूप बन जाता है। यद्यपि यह शुद्ध तिङ का रूप है, तो भी था थे थी आदि के सादृश्य पर गा गे गी रूप चल निकले। प्रस्तुत प्रक्रिया में विचारणीय यह है कि अपभ्रंश या प्राकृत मे भविष्यकाल के अर्थ में 'ज्ज' वाले रूपों का प्रयोग कितना था। जहां तक अपभ्रंश का प्रश्न है उसमें भविष्यकाल में इस प्रकार के रूप बहुत कम प्रयुक्त हैं चलिहइ, चलिसइ वाले रूप ही अधिक प्रयुक्त हैं, कुछ भी हो, गा गे गी का विकास चिंतनीय अवश्य है। ब्रज के चलिहै करिहै—आदि रूप चलिहइ के ही समान हैं। अवधी का 'चली' भी चलिहइ के 'ह' का लोप और संधि करने पर बनता है। चलब करब आदि रूप संस्कृत के चलितव्य=चलिअव्व=

च लम्अब = चलब के रूप में विकसित हुए, चलितव्य कर्मणि प्रयोग है—परन्तु हिन्दी की प्रवृत्ति के अनुसार संस्कृत का कर्मणि प्रयोग हिन्दी में आकर कर्तरिप्रयोग हो जाता है। यह भाषा का अपना स्वभाव है।

चाहिए—की व्युत्पत्ति कुछ विद्वानों ने चह से की है, पर इस अर्थ में इसका प्रयोग एकदम विरल है। 'स्पृह' से इसका विकास मानना चाहिए। स्पृह का प्राकृत में पाहिज्जइ होता है, और मराठी में पाहिजे। स्पृह में 'स + प + ह' तीन वर्ण हैं, 'स' का च से विनिमय होता है, गोरखपुर में शावास को चाबस कहते हैं—अतः स्पृह से पाहिजे की तरह चाहिए रूप बन सकता है। इसकी व्युत्पत्ति भी विचारणीय है।

संयुक्तक्रियाएं—हिन्दी में संयुक्तक्रियाओं का खूब प्रयोग होता है। जैसे—उठ बैठा, गिरपड़ा, इत्यादि। संयुक्तक्रिया मे बाद की क्रिया की मुख्यता होती है। संस्कृत में 'चालयामास, एधांबभूव, चालयांचकार आदि रूप संयुक्त क्रिया के ही उदाहरण हैं। कालिदास ने इनका खूब प्रयोग किया है। साधारण नियम यह है कि उनके बीच में व्यवधान नहीं आना चाहिए, कालिदास ने इसका उलंघन किया है, रघुवंश में दशरथ की आखेट-यात्रा के वर्णन में कवि ने 'संपातया प्रथम मास' लिखा है, इससे स्पष्ट है कि भाषा को व्याकरण के नियमों से नहीं बांधा जा सकता। वह चेतन की कृति है अतः उसमें स्वाभाविक परिवर्तन होना ही चाहिए। आधुनिक हिन्दी में संयुक्त क्रियाओं के विचित्र प्रयोग मिलते हैं। जैसे—"मुझसे तो उठा नहीं जाता" "उसने उठा ही तो लिया" इत्यादि।

शब्द कोष

अ

आइरिय }
आयरिय } = आचार्य

अग्ग = अग्र, आगे

अग्गि = अग्नि

अग्घ = अर्घ्य

अच्चब्भुअ = अत्यद्भुत

अच्चन्त = अत्यन्त

अज्जुत्त = अयुक्त

अज्ज = अद्य

अञ्चल = अंचल

अडुवि = अटवी, पहाड़,

अत्थवण = अस्तमन

अन्तेउर = अन्तःपुर, रनवास

अद्ध = अर्ध, आधा

अप्पा = आत्मा

अभंतर = अभ्यन्तर, भीतर

अक्खर = अक्षर

अमिय = अमृत

अवर = अपर, दूसरा

अवरुप्पर = परस्पर

अंसु = आंसु

अहिणव }
नूतन } अभिनव, नया

अहोरत्ति = अहोरात्र, दिनरात

अणत्थ = अनर्थ

अणज्ज = अनार्य

अच्छरिय = आश्चर्य

अच्छर = अप्सरा

अच्छइ = अस्ति

अणादर = अनादर

अनाह = अनाथ

अनुदिणु = प्रतिदिन

अत्थ = अर्थ

अण्ण }
अन्न } = अन्य

अत्थि = अस्ति, है

अंधआर }
अंधार } = अंधकार, अंधेरा

अपुज्य = अपूज्य
अभक्ख = अभक्ष्य
अरण्ण = अरण्य, जंगल
अलक्ख = अलक्ष्य
अवत्थ = अवस्था
अब्भास = अभ्यास
असंख = असंख्य

आ

आकंख = आकांक्षा
आएस = आदेश
आवइ = आपद्
आउस = आयुष्
आण = आज्ञा [हिन्दी आन]
आदर = आदर
आयवत्त = आतपत्र (छत्ता)
आसण = आसन
आसत्त = आसक्त
आसीस = आशिष्
आहरण = आभरण (गहना)

इ

इत्थि = स्त्री
इंदिय = इन्द्रिय
इंधण = ईंधन
इयर = इतर
ईस = ईश

उ

उअअ = उदय
उग्गम = उद्गम
उच्छिट्ठ = उच्छिष्ट
उच्छव = उत्सव
उच्छु = इक्षु ऊख,
उज्जअ = उद्यत
उज्जोअ = उद्योत
उज्झ = उपाध्याय
उज्झर = निर्झर
उण्ह = उष्ण
उण्हाल = उष्णकाल
(उनारी हिन्दी)
उच्छाह = उत्साह
उत्तरावह = उत्तरापथ
उद्देस = उद्देश
उप्पल = उत्पल, पत्थर
उम्मुह = उन्मुख
उवएस = उपदेश
उवभोय = उपभोग
उम्माद = उन्माद
उपयार = उपकार
उववास = उपवास
उवसोह = उपशोभा
उव्वेव = उद्वेग

ऊसास = उच्छ्वास

ए

एक्कमेक = एकमेक

एक्कलिय = एकली, एकाकिनी

ओ

ओली = आवली, पंक्ति

ओसार = उत्सार

ओह = ओघ

क

कइ = कति, कितने

कइ = कवि

कउ = कहां से

कक्कस = कर्कश

कक्ख = कक्ष

कज्ज = कार्य, (कारज)

कज्जल = काजल

कडक्ख = कटाक्ष

कट्ठ = काष्ठ

कण्ण = कर्ण

कण्ह = कृष्ण

कंत = कांत

कंपण = कृपाण

कलिय = कलिका

कह = कथा

कम्म = कर्म

कद्दम = कर्दम

काउरिस = कापुरुष

कारण्ण = कारुण्य

कडिल्ल = कटिवस्त्र

कडाह = कढ़ाई

कठिण = कठिन

कायर = कातर

किय = कृत

किलेस = क्लेश

काय = काक, कौआ

किरिया = क्रिया

किलन्त = क्लान्त

किसिय = कृशित

किसलय = कोंपल

कित्ति = कीर्ति

क्रीड़ = क्रीड़ा, खेल

किविण = कृपण

कुक्कुड = मुर्गा

कुइय = कुपित

कुक्खि = कुक्षि, कोख

कुडुम्ब = कुटुम्ब

कुपह = कुपथ

कुरुखेत्त = कुरुक्षेत्र

कुच्छ = किंचित्, थोड़ा

कुल्हड़ि = कुल्हाड़ी
कूर = क्रूर
कोइल = कोकिल, कोयल
कोऊहल = कौतुहल
कोण = कोण
कोस = कोष
कोह = क्रोध
कोट्ठ = कोष्ठक कं.ठा.

ख

खडिल्लउ = खल्वाट खोपड़ी
खंधावर = स्कंधावार, सेना
खप्पर = कर्पर
खवण = क्षपणक, साधु
खार = क्षार
खतव्व = क्षंतव्य
खंत = क्षांत
खलभलिय = क्षुब्ध
खुद्ध = क्षुब्ध
खुल्लय = क्षुल्लक
खेड्डु = खेल
खेम = क्षेम
खेत = क्षेत्र
खोणी = क्षोणी
खोह = क्षोभ

र

रज्ज = राज्य
रक्ख = रक्षा
रण्ण = जंगल
रत्त = रक्त
रत्ति = रात्रि
रयण = रत्न
रवण्ण = रमणीय
रसोइ = रसवती
रहस = हर्ष
राउल = राजकुल
रिंछोली = पंक्ति
रइ = रति
रउद्द = रौद्र
रंध = रंध्र,छेद
रिक्ख = रीछ
रिद्धि = ऋद्धि
रिसह = ऋषभ
रुक्ख (रुख हिन्दी) } = वृक्ष
रुट्ठ = रुष्ट
रुण्ण = रुदित
रयणि = रजनी
रम्म = रम्य
रेह = रेखा

रोट्ट = रोट्टक, रोटी

ल

लच्छि } = लक्ष्मी
लक्खि

लावण्ण = लावण्य

लिह } = लेखा
लेह

लड्डुअ = लड्डुक

लोण = लवण, नमक

लोय = लोक

व

वउल्ल = वर्तुल, गोल

वच्छ = वृच्छ

वढ = मूर्ख

वंक = टेढ़ा

वंस = वंश

वाघ = व्याघ्र

वच्छल्ल = वात्सल्य

वज्ज = वज्र

वण = वन

वत्थ = वस्त्र

वराय = वराक, बेचारा

वरिस = वर्ष

वरिट्ठ = वरिष्ठ

वसह = वृषभ

वहु = वधू

वामोह = व्यामोह

वासहर = वासगृह

विठ्ठु = विष्णु

विएस = विदेश

विक्खाय = विख्यात

विचित्त = विचित्र

विच्च = वर्त्मन् रास्ता

विज्जुल = विजली

विज्जा = विद्या

विणोय = विनोद

विणट्ठ = विनष्ठ

वित्ति = वृत्ति

वित्थय } = विस्तार
वित्थर

विदिस = विदिशा

विन्नाण = विज्ञान

विन्नास = विन्यास

विप्प = विप्र

विप्पिय = विप्रिय

विंभय = विस्मय

वियप्प = विकल्प

विरत्त = विरक्त

विरूअ = विरूप

विविह = विविध

विबोह = विबोध
विस = विष
विसिट्ठ = विशिष्ठ
विसाय-विषाद
विहत्त-विभक्त
विहल = विफल
विहि = विधि
विहुर = विधुर
वीयराग = वीतराग
वेयण = वेदना
वेराय = वैराग्य
वेस = द्वेष
वेहव = वैभव
वोहित्थ = वोहित

स

सच्च = सत्य
सनेह = स्नेह
सत्त = सप्त
सत्थ = सार्थ
सत्थ = शस्त्र
सत्थ = शास्त्र
सद्द = शब्द
समसाण = श्मशान
सयल = सकल
सलवण = सलावण्य
सवण = श्रमण
सवत्ति = सपत्नी
सह = सभा
सामण्ण = सामान्य
सावय = श्रावक
साहार = साहुकार, श्राम
साहुकार = साधुकार, महाजन
सक्कार = सत्कार
सक्ख = सख्य
संकेय = संकेत
संखोह = संक्षोभ
सच्छ = साक्षात्
संजोय = संयोग
संभ = संभा
संतोस = संतोष
सप्परिवार = सपरिवार
समइ = समय
सुण्णउ = शून्य
सेज्ज = शय्या
सुत्त = सुप्त
सेहर = शेखर
समुद्द = समुद्र
समुन्नय = समुन्नत
संपइ } = संपद्
संपय }

समिद्धि = समृद्धि
सम्पुन्न = सम्पूर्ण
सत्यथ = स्वार्थ
सरसइ = सरस्वती
सल्ल = शल्य
सव्वउ = सर्वतः, सब ओर से
सहाव = स्वभाव
सहसत्ति = सहसा
सामग्गि = सामग्री
सामन्न = सामान्य
सायर = सागर
साल = शाला
सिगार = शृंगार
सिट्ठ = शिष्ट
सिढिल = शिथिल
सिन्य = सैन्य
सिप्पि = शुक्ति
सिहर = शिखर
सीस = शीर्ष
सीह = सिंह
सुइ = श्रुति
सुंडीर = शौण्डीर, बहादुर
सुरक्ख = सुरक्ष
सुविण = स्वप्न
सेट्ठि = श्रेष्ठी
सुहचिट्ठि = शुभ चेष्टा
सेव = सेवा
सोक्ख = सौख्य
सोहग्ग = सौभाग्य

ह

हिट्ठा = अधस्तात्, नीचे
हट्ट = हाट, बाजार
हत्थ = हस्त
हाणि = हानि
हर = गृह
हल = फल
हताम = हताश
हियय = हृदय
हेउ = हेतु
हिय = हित

प

पइट्ठ = प्रवृत्त
पउय = कमल, पद्म
पक्ख = पक्ष
पच्चक्ख = प्रत्यक्ष
पज्जत्त = पर्याप्त
पडिम = प्रतिमा
पण्ण = पर्ण, पत्ता
पइ = पति

पउर = पौर
पउरिस = पौरुष
पक्क = पक्क
पंकय = पंकज
पंकिय = पंकिल
पच्छिम = पश्चिम
पडाय = पताका
पंडिअ = पंडित
पडिबिंब = प्रतिबिम्ब
पडिहार = प्रतिहार
पसाय = प्रसाद
पंति = पंक्ति
पहाव = प्रभाव
पाडल = हंस
पायड = प्रकट
पियर = पिता
पिहिमि = पृथ्वी
पत्त = पत्र
पत्ति = पत्नी
पेम्म = प्रेम
पय = पद
पयडि = प्रकृति
पयत्त = प्रयत्न
परमेसर = परमेश्वर
परिवाडि = परिपाटी

परिसम = परिश्रम
पलय = प्रलय
पलम्ब = प्रलम्ब
पवित्त = पवित्र
पल्लंक = पर्यङ्क
पाव = पाप
पियास = पिपासा
पेसुन्न = चुगली
पुन्न = पुण्य
पुप्फ = पुष्प
पुरुस = पुरुष
पुव्व = पूर्व
पोय = पोत = जहाज

फ

फंस = फांस
फरसु = फरसु, फरसा
फलगु = फलक
फलिय = फलित
फार = स्फार

ब

बंधण = बंधन
बम्भ = ब्रह्म
बप्प = बाप
बलिवंड = बलात्कार
बब्बर = बर्बर

बय = बक
बहिणि = भगिनी
बार = द्वार
बारस = द्वादश
बरीस = वर्ष
बासण = वस्त्र
बिण्णि = दो
बोहि = बोधि
बाहिर = बाहर

भ

भग्ग = भग्न
भट्ठ = भ्रष्ट
भंडण = कलह
भत्त = भक्त
भमर } = भ्रमर
भसल }
भंति = भ्रान्ति
भल्लय = भद्रक
भविय = भव्य
भाणु = भानु
भायर = भाई
भिच्च = भृत्य
भुल्ल = भूला, भ्रान्त
भित्ति = दीवाल
भास = भाषा

म

मंउड = मुकुट
मउर = मयूर
मग्ग = मार्ग
मच्छर = मत्सर
मज्ज = मद्य
मज्झ = बीच
मट्टी = मिट्टी
मडय = मृतक
मंडव = मंडप
मनुअ = मनुज
मणोरह = मनोरथ
गव्वु = गर्व
मंड = मंद
मत्थय = मस्तक
मन्न = मान्य
मम्म = मर्म
मम्मण = मेरामन
मयगल = मदकल
मयरट्ट = वेश्या
मयरंद = मकरंद
मयराज = मृगराज
मसाण = श्मशान
महल्ल = वृद्ध

महव्वय = महाव्रत
भाय } भ्राता
भाइय }
मुट्ठि = मुष्टि
मुद्ध = मुग्ध
मोर = मयूर
महाजण = महाजन
महुमास = मधुमास, वसन्त
माण = मान
मास = मांस
मिग = मृग
मिच्छा = मिथ्या
मुच्छ = मूर्छा
मित्त = मात्र
माहप्प = महात्म्य
मुत्ताहल = मुक्ताफल
मुणाल = मृणाल
मेह = मेघ
मेहुण = मैथुन
मोक्ख = मोक्ष
मोग्गर = मुद्गर
मोय = मोद
धणुहर = धनुर्धर
धन्न = धन्य
धम्म = धर्म
धयवड = ध्वजपट
धर = धरा
धुआ = लड़की
धीरिम = धैर्य
धुत्त = धूर्त
धुव = ध्रुव
धूम = धुआँ
धूसरिय = धूसरित

न

नइ = नदी
नट्ठ = नष्ट
नंदण = लड़का
नयर = नगर
नरय = नरक
नरिंद = नरेंद
नवल्ल = नवीन
नवहलिय = नवफलित
नाउं = नाम
नायमुद्द = नागमुद्रा
नारियेर = नारियल
नास = नाश
निक्कय = निष्क्रिय
निक्कारण = निष्कारण
निच्चल = निश्चल
नित्त = नेत्र

निद्ध = स्निग्ध
निद्धण = निर्धन
निद् = निद्रा
निप्फल = निष्फल
निरवराह = निरपराध
निवाण = निर्वाण
निवित्ति = निवृत्ति
निसाचर = निशाचर
नीसद्द = निःशब्द
नीसंदेह = निःसंदेह
नीसेष = निःशेष
नेउर = नुपुर
नेत्त = नेत्र
नेवत्थ = नेपथ्य
नेह = स्नेह
न्हाण = स्नान
गयन्द = गजेन्द्र
गरुअ = गरुक, गरीयस
गवक्ख = गवाक्ष
गाहिर = गंभीर
गाम = ग्राम
गिम्भ = ग्रीष्म
गुज्भ = गुह्य
गत्त = गात्र
गब्भ = गर्भ
गंथ = ग्रंथ
गय = गज
गयण = गगन
गरिट्ठ = गरिष्ठ
गह = ग्रह
गहण = ग्रहण
गास = ग्रास
गुरुहार = गुरुभार

घ

घरवास = गृहवास
घोषण = घोषणा
घाय = घात
घरिणी = गृहिणी

च

चउत्थ = चतुर्थ
चक्क = चक्र
चाडुयार = चाटुकार
चम्म = चर्म (चमड़ा)
चंद = चंद्र
चक्खु = चक्षु
चउव्विह = चतुर्विध
चंदलेह = चन्द्रलेखा
चारित्त = चारित्र
चिरयाल = चिरकाल

चुक्क = च्युत
चुण्ण = चूर्ण
चोर = चोर
चोल्ल = चोली

छ

छण्ण = छन्न
छत्तिय = छत्रिका
छार = क्षार
छाय = छाया
छत्त = छत्र
छित्त = क्षेत्र
छिद्द = छिद्र
छेय = छेद

ज

जउण = यमुना
जणवउ = जनपद
जंत = यंत्र
जक्ख = यक्ष
जर = ज्वर
जलजंत = जलयंत्र
जस = यश
जंघ = जंघा
जण = जन
जत्ता = यात्रा

जणणि = जननी
जणण = जनक
जलदेवय = जलदेवता
जलहर = जलधर
जसहण = यशोधन
जाण, णाण = ज्ञान
जीह, जिभा = जिह्वा
जुज्झ = युद्ध
जुत्ति = युक्ति
जेट्ठ = ज्येष्ठ
जोग = योग
जूआर = द्यूतकार, जुआड़ी
जोव्वण = यौवन

झ

झत्ति = जल्दी
झुणि = ध्वनि
झलमलंत = झलमलाता
झाण = ध्यान
झुलुक्क = झोंका

ट

टंकार = टंकार
टिंट = जुआघर

ठा

ठाण = स्थान

ठविय = स्थापित

ड

डम्भ = दम्भ

डर = दर

डाल = शाखा

डाइणि = डाकिनी

डिंडीर = फेन

डुक्कर = दुष्कर

डोंव = चंडाल

ण

णाण = ज्ञान

णिश्चिन्त = निश्चिन्त

णच्चण = नर्तन

णिडाल = ललाट

णेह = स्नेह

णायरिय = नागरिक

णाणाविह = नानाविध

णत्थि = नास्ति

णिसि = निशा

णिहि = निधि

णीसास = निःश्वास

णेउर = नूपुर

त

तक्खण = तत्क्षण

तंब = ताम्र

तंबोल = पान

तास = त्रास

तिक्ख = तीक्ष्ण

तिय = स्त्री

तुम्हारिस = तुम्हारा जैसा

तुरंत = शीघ्र

तुम्हार = तुम्हारा

तंत = तंत्र

तत्त = तप्त

तड = तट

तावस = तापस

तिकाल = त्रिकाल

तित्त = तृप्त

तित्थ = तीर्थ

तिन्न = तीर्ण

तिलय = तिलक

तिलोय = त्रिलोक

तिवग्ग = त्रिवर्ग

तुंग = ऊंचा

तुट्ठ = तुष्ट

तुडि = त्रुटी

तोणीर = तूणीर
तोस = तोष

थ

थक्क = स्थिर
थण = स्तन
थत्ति = स्थिति
थवक्क = गुच्छा स्तवक
थाण = स्थान
थिय = स्थित
थिर = स्थिर
थोव, थोड, थोर = स्तोक, थोड़ा

ज

दइअ = दैव
दक्ख = दक्ष
दक्खिण्ण = दाक्षिण्य, उदारता
दढ = दृढ़
दप्प = दर्प
दप्पण = दर्पण
दय = दया
दुवारिय = द्वारपाल
दाडिम = अनार
दाढा = दंष्ट्रा
दारिद्द = दारिद्र्य

दार = स्त्री
दाहिण = दक्षिण
दिट्ठ = दृष्ट
दिण्ण = दत्त, दिया
दीव = द्वीप दीप
दुवार = द्वार
दुस्सील = दुःशील
दूहल = दुर्भाग्य
देवल, देहुर = देवकुल, मंदिर
दिवह = दिन, दिवस
दिव्व = दिव्य
दिस = दिशा
दिहि = धृति
दीह = दीर्घ
दुक्कड = दुष्कृत
दुक्कम्म = दुष्कर्म
दुक्काल = दुष्काल
दुक्किय = दुष्कृत
दुग्ग = दुर्ग
दुज्जण = दुर्जन
दुत्तर = दुस्तर
दुद्धर = दुर्धर
दुण्णिवार = दुर्निवार
दुम्मइ = दुर्मति

ध

धंध = मोह

धय = ध्वज

धवल = सफेद

धिट्ठ = धृष्ट

स

सोह = सोहना, सोहइ

सुक्क = सूखना, सुक्कइ

सक्क = सकना, सक्कइ

सह = सहना, सहेइ

सुमर = याद रखना, सुमरइ

सुण = सुनना, सुणइ

सिक्ख = सिखाना

सिक्खवइ, शिक्षा देना

सुव = सोना, सुवइ

सिंगार = शृंगार करना, सिंगारइ

सम्माण = सम्माण करना, सम्माणइ

संताव = सताना, संतावइ,

संठव = स्थापित करना, संठवइ

संखोह = क्षोभ करना, संखोहइ

सम्पाल = पालना, सम्पालइ

सलह = सराहना, सलहइ

सम्मिल = मिलना, सम्मिलइ

संभाव = सम्भावना करना, संभावयइ

सिलीस = जोड़ना, श्लेष करना, सिलीसइ

संचर = चलना, संचरइ

संजोय = संजोना, संजोयइ

म

मेल्ल = छोड़ना, मेल्लइ

मुअ = मरना, मुअइ

मोड़ = मोड़ना, मोड़इ

मोह = मोहना, मोहइ

मोक्कल = छोड़ना, मोकलइ

मार = मारना, मारइ

मुण = जानना, मुणइ

मिल = मिलना, मिलइ

मुण्ड = मुड़ना, मुण्डइ

मज्ज = डूबना, मज्जइ, बुड्डइ

मउल = मुलकित होना, मउलइ

मुच = छोड़ना, मुचइ

र

रक्ख = रक्षा करना, रक्खइ

रम = रमना, रमइ

रुअ = रोना, रुअइ

रुस = रूसना, रुसइ

रंज = रंजन करना, रंजइ

भ

भर = भरना, भरइ

भमाड = भ्रमण करना, भमाडइ
भण = कहना, भणइ
भयभीस = भय से डरना, भयभीसइ
भाम = घूमना, भामइ, भमइ
भाव = भाना, भावइ
भास = भासना, भासइ
भंज = भग्न होना, भंजइ

व

विअस = विकसित होना, विअसइ
विधंस = ध्वस्त होना, विंधसइ
विवर = विवरण देना, विवरइ
वेढ = घेरना, वेढइ
विप्फु = स्फुरित होना, विप्फुरइ
वक्खाण = वखानना, वक्खाणइ
वज्जर = बोलना, वज्जरइ
विडम्ब = विडम्बना करना, विडिम्बइ
वलग्ग = चढ़ना, वलग्गइ
विहर = विहार करना, विहरइ
विजूर = झूरना, विजूरइ
बंध = बांधना, बंधइ

प

पुञ्ज = संचयकरना, पुंजइ
संच = संचइ
पेर = प्रेरित करना, पेरइ
पेस = भेजना, पेसइ
पूर = पूरा करना, पूरइ
पोस = पोषण करना, पोसइ
पिय = पीना, पियइ
पिक्ख = देखना, पिक्खइ
पाल = पालना, पावइ
पाव = पाना, पावइ
पिच्छ = देखना, पिच्छइ
पहिर = पहिरना, पहिरइ
पहर = प्रहार करना, पहरइ
पयास = प्रकाशितकरना, पयासइ
पक्खि = परीक्षा लेना, पक्खिइ

त

तिक्ख = तीक्ष्णकरना, तिक्खेइ,
तोस = संतुष्ट करना, तोसइ
ताड = ताड़न करना ताडइ
चिंत = चिंताकरना { चिंतइ / चिंतवइ }
ओहट्ट = घटना, ओहट्टइ
अनुहर = अनुसरण करना, अनुहरइ
खिज्ज = खीजना, खिज्जइ
लग्ग = लगना, लग्गइ

खण्ड = खंडित करना, खंडइ
कील = कीलना, कालवि, कीलइ
चुम्ब = चूमना, चुम्बइ
जा = जाना, जाइ
खा = खाना, खाइ
जाण = जानना, जाणइ
हण = मारना, हणइ
हंस = हसना, हंसइ
थुण = स्तुति करना, थुणइ
निहाल = देखना, निहालइ
पड = गिरना, पडइ
लंघ = लाघना, लंघइ
गवेस = खोजना, गवेसइ
दल = दलना, दलइ
नंद = नंदित करना, नंदइ
वंद = वंदना करना, वंदइ
ग्रह } लेना गृण्हइ
लह } लेना लहइ
निवड = गिरना निवडइ
अन्तरुंदेइ = अनुसुनी करता है
गढ़ = गढ़ना, गढ़इ
छड्ड = छोड़ना, छड्डइ

काव्य-चयन

महाकवि कालिदास (मालव-जनपद)

राजा पुरुरवा का विलाप

गंधुम्माइअ महुअर गीएहिं
वज्जंतेहिं परहुअ तूरेहिं
पसरिअ पवणु-व्वेलिअ पल्लवणिअरु
सुललिअ विविह-पआरं णच्चइ कप्प-अरु ।
बहिण ? पइँ इअ अब्भत्थिमि आअक्खहि मं ता
एत्थ वणें भमंते जइ पइं दिट्ठी सा महु कंता
णिसमाहि मियंक सरस वअणा हंसगई
एं चिण्हें जाणीहिसि आअक्खिउ तुज्झ मइं ॥ २ ॥

परहुअ महुरपलाविणि कंती णंदणवण सच्छंद भमंती
जइ पइं पिअअम सा महु दिट्ठी ता आअक्खहि महु परपुट्ठी
रे रे हंसा किं गोइज्जइ गइ अणुसारें मइं लक्खिज्जइ
कइं पइं सिक्खिउ ए गइ लालस सा पइं दिट्ठी जहणभरालस ॥ ३ ॥

गोरोअणा कुंकुमवण्णा चक्का भणइ मइं
महुवासर कीलंती धणिआ ण दिट्ठी पइं ॥ ४ ॥

हउं पइँ पुच्छिमि आअक्खहि गअवरु ललिअपहारें णासिअतरुवरु
दूर विणिज्जिअ ससहरकंती दिट्ठी पिअ पइँ सम्मुह जंती ॥ ५ ॥

मोरा परहुअ हँस विहँगम अलि गअ पव्वअ सरिअ कुरँगम
तुज्झह कारण रणभमंते को णहु पुच्छिअ महं रोअते ॥ ६ ॥
विक्रमोर्वशीय, चतुर्थ-अंक।

सरहपाद (कामरूप, आसाम)

जो णग्गा विअ होइ मुत्ति ता सुणह सियालह
लोमोप्पाटणे अत्थि सिद्धि ता जुवइ-णितंबह ॥ १ ॥
पिच्छी गहणे दिट्ठ मोक्ख ता मोरह चमरह
उंछ भोअणें होइ जाण ता करिह तुरङ्गह ॥ २ ॥
सरह भणइ खवणाण मोक्ख महु किंपि न भावइ
तत्तरहिअ काया ण ताव पर केवल साहइ ॥ ३ ॥

आचार्य देवसेन, (नवीं सदी, प्रथमार्ध, धारा, मालव)

सावयधम्म

दुज्जवु सुहियउ होउ जगि सुयणु पयासिउ जेण
अमिउ विसें वासरु तमिण जिम मरगउ कच्चेण ॥ १ ॥
संजमु सीलु सइच्चु तउ जसु सूरिहि गुरु सोइ
दाह छेय-कस घाय-खमु उत्तमु कँचणु होइ ॥ २ ॥
जइ देखेवउ छड्डियउ ता जिय छड्डिउ जूउ
अह अग्गिहि उल्हावियइं अवस न उट्ठइ धूउ ॥ ३ ॥
दय जि मूलु धम्मंघिवहु सो उप्पाडिउ जेण
दलफल कुसुमहं कवण कह आमिसु भक्खिउ तेण ॥ ४ ॥
वेसहिं लग्गइ धणियधणु तुट्टइ बंधउमित्तु
मुबइ णरु सव्वहं गुणहं वेसाधरि पइसंतु ॥ ५ ॥
परतिय बहुबंधण पर ण अण्णु वि णरयणिसेणि
विस-कंदलि धारइ ण पर करइ वि पाणहं हाणि ॥ ६ ॥

जइ अहिलासु णिवारियउ ता वारिउ परयारु
अह णाइक्के जित्तइण जित्तउ सयलु खंधारु ॥ ७ ॥
वसणइं तावइं छंडि जिय परिहरि वसणासत्त
सुक्कहं संसग्गें हरिय पेक्खह, तरू उज्झन्त ॥ ८ ॥
माणइं इच्छिय परमहिल रावणु सीय विणट्ठु
दिट्ठिहिं मारइ दिट्ठिविसु ता को जीवइ दट्ठु ॥ ६ ॥
पसुधण धण्णइं खेत्तियइं करि परिमाण पवित्ति
बलियइं बहुयइं वंधणइं दुक्करु तोडहुं जंति ॥ १० ॥
भोगहं करहि पमाणु जिय इंदिय म करि सदप्प
हुंति ण भल्ला पोसिया दुद्धें कालासप्प ॥ ११ ॥
एहु धम्मु जो आयरइ वंभणु सुद्दु वि कोइ
सो सावउ किं सावयहं अण्णु कि सिरि मणि होइ ॥ १२ ॥
मज्जु मंसु महु परिहरइ संपइ सावउ सोइ
णीरुक्खइ एरंडवणि किं ण भवाई होइ ॥ १३ ॥
जं दिज्जइ तं पावियइ एउ ण वयण, विसुद्धु
गाइ पइण्णइ खडभुसइं किं ण पयच्छइ दुद्धु ॥ १४ ॥
काइं बहुत्तइं जंपियइं जं अप्पणु पडिकूलु
काइं मि परहु ण तं करहिं एहु जु धम्महु मूलु ॥ १५ ॥
सत्थसएण वियाणियहं धम्मु ण चढइ मणे वि
दिणयर सउ जइ उग्गमइ घूयडु अंधउ तोवि ॥ १६ ॥
णिठुरणमणुयह कट्ठडा सज्जवि उवसम्य विंति
अह उत्तमपइ जोडिया जिय दोस वि गुणहुंति ॥ १७ ॥
छिल्लउ होहि म इंदियहं पंचहं विण्णि णिवारि
इक्क णिवारहि जीहडी अण्णा पराई णारि ॥ १८ ॥

खंचहि गुरुवयणं कुसहिं मेल्लि मढिल्लउ तेम
मुह मोडइ मणहत्थियउ संजमभरतरु जेम
सत्तु वि महुरइं उवसमइ सयल वि जिय वसि हुंति
चाइ कवित्तें पोरिसइं पुरिसहु होइ ण कित्ति ॥ २० ॥
अण्णाएं आवंति जिय आवइ धरण ण जाउ
उम्मग्गें चल्लन्तयहं कंटइं भज्जइ पाउ ॥ २१ ॥
अण्णाएं वलियहं वि खउ, किं दुव्वलहं ण जाइ
जहिं वाएं णासंति गय तहि किं सूणी ठाइ ॥ २२ ॥
अण्णाएं दालिद्दियहं ओहट्टइ णिव्वाहु
लुगाउ पायथसारवइं फाटइ को संदेहु ॥ २३ ॥
दुल्लहु लहि मणुयत्तणउ भोयहं पेरिउ जेण
लोहकज्जि दुत्तरतरणि णाव वियारिय तेण ॥ २४ ॥

'सावयधम्म दोहा'

आचार्य पुष्पदन्त (नवीं सदी मान्यखेट दक्खिन)

सरस्वती वंदना

दुविहालंकारें विप्फुरंति लीलाकोमलइं पयाइं दिंति
महकव्वणि हेलणि संचरंति सव्वइं विण्णाणइं संभरंति
णीसेस देस भासउ चवंति लक्खणइं विसिट्ठइं दक्खवंति
अइरुंदछंदमग्गेण जंति पाणेहिं मि दह पाणाइं लेंति
[illegible]

चउदह पुव्विल्ल दुवालसंगि जिण वयण विणिग्गय सत्तभंगि
वायरणवित्ति पायडियणाम पसियउ महु देवि मणोहिराम
सिरिकण्हराय करयलि णिहिय असिजलवाहिणी दुग्गयरि
धवलहरसिहरि हयमेहउलि पविउल मण्णखेड णयरि

नर और नारी

सोहइ जलहरु सुरधणु छायए
सोहइ णरवरु सच्चए वायए
सोहइ कइयणु कइए सुबद्धए
सोहइ साहउ विज्जए सिद्धए
सोहइ मुणिवरिंदु मण—सुद्धए
सोहइ महिवइ णिम्मल—बुद्धिए
सोहइ मंतिमंति विहिदिट्ठिए
सोहइ किंकरु असिवर लट्ठिए
सोहइ पाउसु सास—समिद्धिए
सोहइ विहउ सपरियण रिद्धिए
सोहइ माणुसु गुण सम्पत्तिए
सोहइ कज्जारंभु समत्तिए
सोहइ महिरुहु कुसुमिय साहए
सोहइ सुहडु सुपोरिस राहए
सोहइ माहउ उरयल लच्छिए
सोहइ णरु बहुयए धवलच्छिए

गुणहरु मुद्धिहे भाइयउ सुद्धवंसु अच्छुवि कोडीसरु
णरहो कलत्तु सलक्खणु वि किं ण करइ सरीरु भामासुरु

नागकुमार और दुर्वचन का युद्ध

खग्गेहिं छिज्जंति — सेल्लेहिं भिज्जंति
बाणेहिं विज्झंति — रुहिरेहिं संचंति
परहिं कप्पंति — दंतेहिं फुट्टंति
सूलेहिं हूलंति — मुग्गरहिं पीसंति

पाडंति मोडंति लोवंति घोट्टंति
गेसावडरणाइं जुज्झंति सेएणाइं
ता भासियं तस्य वीरस्स वालस्स
केणावि पुरुसेण कयसुयण हरिसेण
तरुणी णिमित्तेण छणिक चित्तेण
दुव्वयरणणामेण रामाहिरामेण
रुद्धोतुहं सामि मायंगगयगामि
तं सुणिवि विप्फुरिउ रोसेण अइतुरिइउ
णीलइरि करि चडिउ अइ ऊण तहो भिडिउ
पिय वम्मउत्तस्य रणभारजुत्तस्य

घत्ता–पिय पहु पेक्खिवि भयथरहरिउ भडु करिवर खंघ हो ओयरिउ।
जाएवि वालहो पयजुए पडिउ पभणइ जडु दइवें णाडिउ ॥

णायकुमार चरिउ

यशोधर राजा

चाएण कएणु विहवेण इंदु रुवेण कामु कंतीए चंदु
दंडें जमु दिएण पयंड घाउ परदुमदलण बलेण बाउ
सुरकरि करि थोर पयंड बाहु पबंल णिवइ भणि दिएणबाहु
भसलउल णील धम्मिल्ल सोहु सुसमत्थ भडह णेहाण णेहु
गोउर—कवाड अइविउलवच्छु सच्छिलय पालणु दीहरच्छु
लक्खण लक्खंकिउ गुणसमुद्दु सुयसयण मुत्ति घणगिहरसद्दु
तहो रज्जु करंतहो जणु पालंतहो मंति महल्लिहिं परियरिउ
एत्तहिं रायउरहो घणकणपउरहो सम्पत्तउ कउलायरिउ

मानवशरीर (आध्यात्मिक दृष्टि से)

माणुस शरीर दुहपोट्टलउ धोयउ धोयउ अइचिट्टलउ
वासिउ वासिउ णउ सुरहि मलु पोसिउ पोसिउ णउ धरइ बलु
तोसिउ तोसिउ णउ अप्पणउ मोसिउ मोसिउ धरभायणउ
भूसिउ भूसिउ ण सुहावणउ मंडिउ मंडिउ भीसावणउं
बोल्लिउ बोल्लिउ दुक्खावणउं चच्चिउ चच्चिउ चिलिसावणउं
मंतिउ मंतिउ मरणहो तसइ दिक्खिउ दिक्खिउ साहुहुं भसइ
सिक्खिउसिक्खिउ वि ण गुणि रमइ दुक्खिउ दुक्खिउ वि णउथसमइ
वारिउ वारिउ वि पाउ करइ पेरिउ पेरिउ विण धम्मि चरइ
अब्भंगिउ अब्भंगिउ फरिसु रुक्खिउ रुक्खिउ आमइ सरिसु
मलियउ मलियउ बाएं घुलइ सिंचिउ सिंचिउ पिम्भि जलइ
सोसिउ सोसिउ सिंभि गलइ पच्छिउ पच्छिउ कुट्ठहं मिलइ
चम्में बद्धु वि कालिं सडइ रक्खिउ रक्खिउ जममुहि पडइ
घत्ता—इय माणुसु कयत्तामसु जाइ मरिवि तंवारहो
तरुणीवसु अम्हारिसु जडु लग्गउ प्परदारहो

"जसहरचरिउ"

कवि की प्रस्तावना

सिय दंतपंति धवली कयासु ता जंपइ वरवाणी विलासु।
भो देवीणंदणजयसिरीह किं किज्जइ कव्वु सुपुरिससीह।
गोवज्जिएणि णं घणदिणेहिं सुरवरचावेहि व णिग्गुणेहिं।
मइलियचित्तहि णं जरघरेहिं छिद्दण्णेसिहिं णं विसहरेहिं।
जड़वाइएहिं णं गयरसेहिं दोसायरेहिं णं रक्खसेहिं।
आयक्खिय परपुट्ठीपलेहिं वरकइणि विज्जइ इयखलेहिं।
जो बाल वुड्ढ संतोसहेउ रामाहिरामु लक्खणसमेउ।
जो सुम्मइ कइवइ विहियसेउ तासुवि दुज्जणु किं परिअहोउ।

घत्ता—णउ महु बुद्धिपरिग्गहु
णउसुयसंगहु णउ कासुवि केरउबलु ॥
भणु किह करमि कइत्तणु
ण लहमि कित्तणु जगु जि पिसुणसय संकुलु ॥

उद्यान का वर्णन

अंकुरियइं णवपल्लवघणाइं कुसुमियकलियइं णंदणवणाइं ।
जहिं कोइलु हिंडइ कसणपिंडु वणलच्छिहे णं कज्जलकरंडु ।
जहिं उड्डिय भमरावलि विहाइ पवरिंदणीलमेहलिय णाइ ।
ओयरिय सरोवर हंसपंति चलधवलणाइं सप्पुरूसकित्ति ।
जहिं सलिलइं मारूयपेल्लियाइं रविसोसभएण व हल्लियाइं ।
जहिं कमलइं लच्छिह सहुं सणेहु सहुं ससहरेण बड्ढउ विरोहु ।
किर दो वि ताइं महणुब्भवाइं जाणंति ण तं जडसंभवाइं ।
जहिं उच्छुव णाइं रसगब्भिणाइं णावइ कव्वइं सुकइहिं तणाइं ।
जुवमंत महिस वसहुच्छवाइं मंथामंथियमंथणिरवाइं ।
चवलुद्धपुच्छवच्छाउलाइं कीलियगोवालइं गोउलाइं ।
जहिं चउरंगुल कोमलतणाइं घणकणकणिसालइं करिसणाइं ।

घत्ता—तहिं छुहधवलियमंदिरु
णयणाणंदिरु णयरू रायगिहु रिद्धउ ॥
कुलमहिहरथण हारिए
वसुमइणारिए भूसणु ण आइद्धउ ॥

संकेयागय विरहीयणाइं सासोयवबद्धिय कंचणाइं ।
बहुलोयदिण्णाणणा फलाइं णावइ कुवाइं भल्लुञ्जलाइं ।
जहिं महु गंडूसहिं सिंचियाइं विमरियाहरसिहिं अंचियाइं ।
सीमंतिणिपयपोमाहयाइं पियसरिसिबउलकुसुमगलाइं ॥

पियमहिलय सुहवाणा सणाइं जहिं संदरिसिय वाणा सणाइं ।
पडिखलियमयुरभावियरणाइं उज्जाणइं णं भावियरणाइं ।
उक्कलियालइं णवजोव्वणाइं णिरु सच्छइं णं सज्जणमणाइं ।
जहिं सीयलाइं ऊसमाणियाइं परकज्जसमाणइं पाणियाइं ।
जहिं जणलुच्चणु कंटयकरालु जलि णलिणे लिहकावियउणालु ।
बाहिरि णिहियउ वियसंतु कोसु भणु को व ण ढंकइ गुणहिं दोसु ।
जहिं भमरु तहिं जि संठिउ सुहाइ संगहु सिरि णयणंजणहु णाइं ।

घत्ता—कुसुमरेणु जहिं मिलियउ
पवणुल्ललियउ कणयवण्णु महु भावइ ॥
दिणयर चूडामणियह णह
कामिणियइकंचुउ परिहिउ णावइ ॥

संसार की नश्वरता

खंडयं—इह संसारदारुणे बहु शरीर संघारणे ॥
वसिऊणं दो वासरा के के ण गया णरवरा ॥

पुणु परमेसरु सुसमु पयासइ धणु सुरधणु व खणद्धे णासइ ।
हय गय रह भड धवलइं छत्तइं रविउग्गमणे जंति णं तिमिरइं ।
लच्छिविमल कमलालयवासिणि णवजलहरचल जुह उवहासिणि ।
तणु लायण्णु वण्णु खणि खिज्जइ कालालिमयरंदु व पिज्जइ ।
वियलइ जोव्वणु णं करयलजलु णिवडइ माणुसु णं पिक्कउ फलु ।
दप्पहि लवणु जसु उत्तारिज्जइ सो मुणरिव तरिव उत्तारिज्जइ ।
जो महियइहिं णमिज्जइ सो मुउ घरदारेहिं ण खिज्जइ ।

घत्ता—किर जिसउ परवलु भुत्तउ
महियलु चज्जइ तोवि मरिज्जइ ॥
इय आलिंगिवि बद्धउ अणवरयिविणिवाउ
किज्जहि कहिं विप्पसिज्जइ ॥

दूत का निवेदन

आरणाल—ता दूएण जंपियं किं सुविप्पियं भणसि भो कुमारा।
बाणा भरहपेसिया पिंछभूसिया होंतिदुण्णिवारा॥
पत्थरेण किं मेरुदलिज्जइ किं खरेण मायंगु खलिज्जइ।
खज्जोएं रवि णित्तेइज्जइ कि घुट्टेण जलहि सोसिज्जइ।
गप्पएण किं णहु मासिज्जइ अण्णाणें किं जिणु जाणिज्जइ।
वायसेण किं गरुडु णिरुज्झइ णावकमलेण कुलसु किं विज्झइ।
किं हंसे ससंकु धवलिज्जइ किं मणुएण कालु कवलिज्जइ।
डुंडुहेण कि सप्पु डसिज्जइ किं कम्मेणसिद्धु वसि किज्जइ।
किं णीसासें लोग णिहिप्पइ किं पइं भरहणराहिउ जिप्पइ।
घत्ता—हो होउ पहुप्पइ जंपिएण राउ तुहुप्परि वग्गइ।
करवालहिं सूलहिं सव्वलहिं परहरणंगणि लग्गइ॥

भरत और बाहुबलि का युद्ध

छुडु गज्जिय गुरु संगामभेरि णं भुक्खिय तिहुयणु गिलिवि मारि
छुडु णिग्गउ भुयबलि साहिमाणि छुडु एत्तहि पत्तउ चक्कपाणि।
छुडु कालें णीणिय दीहजीह पसरिय माणुस मंसासणीह।
थिय लोयवाल जीवियणिरीह डोल्लिय गिरि रुंजिय गहणसीह।
छुडु भडभारें ढलहलिय धरणि छुडु पहरणफुरणें हसिउ तरणि।
छुडु चंदवलाइं पलोइयाइं छुडु उहयबलाइं पधावियाइं
छुडु मच्छरचरियइं वड्ढियाइं छुडु कोसहु खग्गइं कड्ढियाइं।
छुडु चक्कइं हत्थुग्गामियाइं छुडु सेल्लइं भिच्चहिं भामियाइं।
छुडु कोंतइं धरियइं संमुहाइं धूमंधइं जायइं दिम्मुहाइं।
छुडु मुट्ठिणिवेसिय सउलिदंड छुडु पंसुजाल गुणि णिहिय कंड
छुडु गयकायर थरहरियप्राण छुडु ढोइय संदण णं विमाण।

छुडु मेंठचरण चोइयमयंग   छुडु आसवार वाहिय तुरंग
घत्ता—छुडु छुडु कारणि वसुमइहि सेरणइं जामहणंति परोप्परु।
अंतरि ताम पइट्ठ तहिं मंति चवंति समुब्भिवि णियकरु।

पश्चाताप

णंकमलसरु हिमाहय कायउ   दवदड्ढ रुक्खु व विच्छायउ।
जं ओहुल्लिय मुहुपहु दिट्ठउ   तं वलि भणइ हउंजि णिकिट्ठउ।
चक्कवट्टि प्पियगोत्तहु सामिउ   जेणमहंत भाइ ओहामिउ।
हा किं किज्जइ भुयवल मेरउ   जं जायउ सुहिदुण्णयगारउ।
महिपुण्णालि व केणणभुत्ती   रज्जहु पडउ वज्जु समसुत्ती।
रज्जहुकारणि पिउ मारिज्जइ   बंधवहुं मि विसु संचारिज्जइ।
जिहअलि गंधं गउ संघारहु   तिह रज्जेणजीउ तंवारहु।
भड़सामंतमंतिकय भायउ   चिंतिज्जंतउ सव्वु परायउ।
तंडुल पयसहुकारणि राणा   णरइ पडंति काइं अवियाणा।
डज्झउ रज्जु जि दुक्खु गुरुअउ   जइ सुहु तो किं ताएं मुक्कउ।
सुहणिहिभोयभूमि संपयथर   कहिं सुरतरु कहिंगय ते कुलपर
घत्ता—दुल्लंघहु दुक्कियलंछणहो   दूसहदुक्खदुरंतहो।
भणु दाढापंजरि पडिउ णरु को उव्वरिउ कयंतहो॥

किं किज्जइ थेरें कामुएण   किं सत्थें पाव पुरिस सुएण
कुल पुत्तएण किं णित्तवेण   समएण वि किं कर णित्तवेण
अवि विज्जाहरवर किंणरेण   णिव्विणयं समएं कि नरेण
धरणियल रंध पडिपूरएण   कि लुद्ध दविणपब्भारएण
सा राई जा ससि विप्फुरिय   सा कन्ना जा हियवइ भरिय
सा विज्जा जा सयरु वि णियइ   तं रज्जु जम्मि कुहयणु जियइ
ते वुह जे वुहहं ण मच्छरिय   ते मित्त ण जे विहरंतरिय
तं धणु जं भुत्तउ दिणि जि दिणि   जं पुणरीव दिण्णउ विहलयणि

घत्ता—सा सिरि जा गुणवाय, गुण ते जे गय गुणिहिं चित्तु हयदुरियउ
गुणि ते हउं मरणमि पुणु पुणु वरणमि जेहिं दोसु उद्धरियउ

श्रोत्रियकौन ?

वणि वाणिज्जारउ जाणियउं	किसियरु हलधारउ भाणियउ
सो सोत्तिउ जो जिणवरु महइ	सो सोत्तिउ जो सुतच्चु कहइ
सो सोत्तिउ जो ण दुट्ठ भणइ	सो सोत्तिउ जो णउ पसु हणइ
सो सोत्तिउ जो हियएण सुइ	सो सोत्तिउ जो परमत्थ रुइ
सो सोत्तिउ जो ण मासु गसइ	सो सोत्तिउ जो ण सुयणि भसइ
सो सोत्तिउ जो जणु पहि थवइ	सो सोत्तिउ जो सुतवें तवइ
सो सोत्तिउ जो संतहुं णवइ	सो सोत्तिउ जो ण मिच्छु चवइ
सो सोत्तिउ जो ण मज्जु पियइ	सो सोत्तिउ जो वारइ कुगइ

घत्ता—जो तिलकप्पासइं दव्वविसेसइं दुणिवि देवगह पीणइ
पसु जीव ण मारइ भारय वारइ पर अप्पु वि समुजाणइ

नीति कथन

खग्गें मेहें किं णिज्जिलेण	तरुण सरेण किं णिप्फलेण
मेहें कामें किं णिद्दवेण	मुणिणा कुलेण किं णित्तवेण
कव्वें पढेण किं णीरसेण	रज्जें भोज्जें किं परवसेण
दव्वें भव्वें किं णिव्वएण	धम्में राएं किं णिद्दएण
तोणें कणिसें किं णिक्कणेण	चावें पुरिसें किं णिग्गुणेण
हउं णिग्गुणु अह वि मम्मु तणउ कवडेण जेहिं तुह मग्गु पणउ
वियसिय पंकिय संणिह मुहेण पडिजंपिउ जइणा, जसु सहेण
हो जोव्वणेण हो रूवएण	हो परियणेण हो हो धणेण
हो पट्टणेण सुह मट्टणेण	हो णीसंखिणिधणवड्ढणेण
सहुं सयणहिं जहिं सम्माणइ बइरु पिसिय वहिं स परमि हवं पि सुइरु

महु जणणी दिएणी तुज्झु पुहइ   जो रुच्चइ सो तुहुं करहि नृवइ
मइं पुणु जाएवउं कहिं वि तेत्थु   णिवसंति दियंवर विज्झि जेत्थु ।
तं णिसुणिवि राएण जइ वि चित्ति अवहेरिउ ।
तो वि परायइ कज्जि पुत्तु रज्जि वइसारिउ ।

युद्धवार्तालाप

भडु को वि भणइ जइ जाइ जीउ तो जाउ थाउ छुडु पहुपयाउ ।
भडु कोवि भणइ रिउ एंतु चंडु   मइं अज्जु करेवउ खंडखंडु
भडु कोवि भणइ पविलंवियंति   मइं हिंदोलेवउं दंतिदंति ।
भडु कोवि भणइ हलि देइ ण्हाणु सुइ देहें दिज्जइ प्राणदाणु ।
भडु कोवि भणइ किं करहि हासु णिम्मिविं सिरेण रिणु पत्थिवासु ।
भडु कोवि भणइ जइ मुंडु पडइ तो महुं रुंडु जिरिउं हणवि णडइ ।
भडु पियहि सरसु वज्जरइ कामि हउं रण दिक्खिउ सरु मोक्खगामि ।
भडु कोवि भणइ असिधेणुयाहिं जसदुद्धु लेमि णरसंथुयाहिं ।
भडु कोवि भणइ हलि छिएणु जइ वि महुं पाउ पडइ रिउं सउहुं तइवि ।
भडु कोवि सरासण दोसु हरइ   सरपत्तइं उज्जुय करिवि धरइ ।
भडु कोवि बद्धतोणी रजुयलु   एं गरुड समुद्धुय पक्ख पडलु ।
भडु कोवि भणइ कलहंसवाणि   महुं तुहं जि सक्खि सोहग्गखाणि ।
परबल अब्भिडिवि रिउसिरु   खुडिवि जइ ण देमि रायहु सिरि ।
तो दुक्कियहरणु जिण तव चरणु चरविं घोरु पइसिवि गिरि ।

हनुमान रावण संवाद

हेला—आरूढो गयाहिवे मोरु कुञ्ज मग्गं ॥
को मग्गइ रयंधओ एलयाण दुग्गं ॥
सायरु किं मज्जायहि सरइ   महिवइ किं अएणणारि हरइ ।
जइ दीवउ अंधारउ करइ   तो किं पाहाणखंडु फुरइ ।

जइ तुहुं जि कुकम्मइं आयरहि मणु कुवहि वहंतउ णउ धरहि ।
तो कासु पासि जणु लहइ जउ जहिं रक्खणु तहिं उप्पणु भउ ।
अण्णु वि णाणाविह दुक्खभरु परहरु इहरत्त परत्तहरु ।
तं णिसुणिवि लंकेसरु भणइ को रंडकहाणियाउ सुणइ ।
महुं किंकरु ताव पढमु जणउ पुणरवि दसरहु दसरहतणउ ।
तहु दिण्णी हउं किं किर रमर्मि घरलंजिय सीय किं ण रममि ।
घत्ता—पुव्व पउत्त महु पच्छइ रहुणाहहु दिण्णी ।
सो छिहिणि मृगेण मइं अणिय णयणरण्णी ॥

राम की प्रतिज्ञा

गिरि सोहइ हरिणा भउ जणंतु पहु सोहइ हरिणा महि जिणंतु ।
गिरि सोहइ मत्तमऊरणाउ पहु सोहइ णायमऊरणाउ ।
गिरि सोहइ वरवणवारणेहिं पहु सोहइ वारिणिवारणेहिं ।
गिरि सोहइ उड्डियवाणरेहिं पहु सोहइ खगधयवाणरेहिं ।
गिरि सोहइ णववाणासणेहिं पहु सोहइ भडबाणसणेहिं ।
तहिं पुव्वकोडिसिल दिट्ठतेहिं पुज्जिय वंदिय हरिहल हरेहिं ।
मंतिहिं पउत्तु भो धम्मरासि उद्धरिय तिविट्ठें एह आसि ।
एवहिं जइ लक्खणुभुयहिं धरइ तो देव तिखंड धरत्ति हरइ ।
तं णिसुणिवि पभणइ रामुएव अज्जु वि तुम्हहं मणि भंति केव ।
जांव वि रणि णिद्दलियउ दसासु जाव वि सिरि दिण्ण विहीसणासु ।
तांव वि तुम्हहं संदेहबुद्धि लइकिज्जइ सव्वहं हिययसुद्धि ।
घत्ता—जो अतुलइं तुलइ बलवंत विरिउ विणिवायइ ।
सो हरिकुलधवलु सिल एह किम णउच्चायइ ॥

सीता का विलाप

धाहावइ सीय मणोहिरामु एक्कल्लउ छंडिउ काइं रामु ।

हा हे देवर महु देहि वाय पइं विणु जीवंतहं कवण छाय।
पूणप्पिणु दट्ठुं हरिसरीरु अवलंबिउ - सीरें हियइ धीरु।
करहयसिरु हाहारउ मुयंतु संबोहिउ अंतेउरु रुयंतु।
लक्खणसुउ णामें पुहइचंदु सइं अहिसिंचिवि किउ कुलि णरिंदु।
सत्तहिं जणेहिं सीयासुएहिं ण समिच्छिय सिरि पीवरभुएहिं।
लहुयारउ ताहं पयग्गि णविउ, अजियंजउ मिहिलाणयरि थविउ।
साकेयणयरि सिद्धत्थणामि वणि परिभमंत चलभसल सामि।
सोराउहेण भयमोहणासि तवचरणु लइउ सिवगुत्तपासि।

घत्ता—तहिं रामेण सहुं सुग्गीउ विसुद्ध विवेयउ।
हणुउ विहीसणु वि पाइयउ जायणिव्वेउ॥

परतंत्रजीवन

डज्झउ परदेसु परावयासु परवसु जीविउं परदिण्णगासु।
भूभंगभिउडिदरिसियभएण रज्जेण वि किं किर परकएण।
सभुयज्जिएण सुहुं वणहलेण णउ परदिण्णें मेइणियलेण।
वर गिरिकुहरु वि मरणमि सलग्घु णउ परधवलहरु पहामहग्घु।
कीलंति ताइं णारीणराइं उरयलथणयलविणिहिय कराइं।
बहुकालहिं लाएं मयपमत्तु वणिणा वणिवइ वणमालरत्तु।
जाणिउ तावें अंततझीणु अपसिद्धउ णिद्धणु बलविहीणु।
बलवंतें रुद्धउ काइं करइ अणुदिणु चिंतंतु जि णवर मरइ।
खलसंगें लग्गी तासुसिक्ख पोट्ठिलु मुणि पणविवि लइय दिक्ख।
चिंतिवि किं महिलइ किं धणेण मुउ अणसणेण णियमियमणेण।
संपुण्णकाउ सोहम्मि देउ चित्तंगउ णामें जाम जाउ।

घत्ता—सावयवय धरिवि ता कालें कयमयणिग्गहु।
रघु मघवंतसुउ सुरु हुउ तेत्थु जि सूरप्पहु॥

कृष्ण का बचपन

दुवई—धूलोधूसरेण वरमुक्कसुरेण तिणा मुरारिणा।
कीलारसवसेण गोवालयगोवीहिययहारिणा॥

रंगंतेण रमंतरमंतें मंथउ धरिउ भमंतुअणंतें।
मंदीरउ तोडिवि आवट्टिउं अद्धविरोलिउ दहिउं पलोट्टिउं।
कावि गोवि गोविंदहु लग्गी एण महारी मंथणि भग्गी।
एयहि मोल्लु देउ आलिंगणु णं तो मा मेल्लहु मे प्रंगणु।
काहि वि गाविहि पंडुरु चेलउं हरितणुतेएं जायउं कालउं।
मूढ़ जलेण काइं पक्खालइ णियजडत्तु सहियहिं दक्खालइ।
थणणरसिच्छिरु छायावंतउ मायहि संमुहुं परिधावंतउ।
महिससिलवउ हरिणाधरियउ णं करणिबंधणाउ णीसरियउ।
दोहउ दोहणहत्थु समीरइ मुइ मुइ माहव कीलिउं पूरइ।
कत्थइ अंगणभवणालुद्धउ बालवच्छु बालेण णिरुद्धउ।
गुंजाहलं दुयरइयपओएं मेल्लाविउ दुक्खेहिं जसोएं।
कत्थइ लोणियपिंडु रिक्खिउ कण्हें कंसहु णं जसु भक्खिउं।

घत्ता—गसरियकरयलेहिं सदंतिहिं सुइसुहकारिणिहिं।
भद्दिइ णियडि थिए घरयम्मु ण लग्गइ णारिहिं॥

पोयणुनगर का वर्णन

जहिं इंदणीकंतीविहिण्णु, णउ णज्जइ कज्जलु णयणि दिण्णु।
जहिं पोमरायमाणिक्कदित्ति, उच्छलइ ण दीसइ घुसिणलित्ति।
समसोहइ महिय थणत्थलीहिं, जहिं रंगावलि हारावलीहिं।
जहिं णिवडियभूसणफुरियमग्गु, हरिलालाकरिमयपंकदुग्गु।
जहिं लोयचित्ततंबोलराउ, वुड्डइ कुंकुमचक्खल्लि पाउ।
जहिं बहलधवलकप्पूरधूलि, कुसुमावलिपरिमलविलुलियालि।

सामंत मंति भड भुत्तभोय, जहिं एंति जंति णायरिय लोय।
जहिं चंदकंतणिज्झरजलाइं पवहंति सुसीयइं णिम्मलाइं।
सोहग्गरूव लायण्णवंत, जहिं णर सयल वि णं रइहि कंत।
जहिं खत्तिय थिय णं खत्तधम्म, जहिं बंभण विरइयबंभयम्म।
जहिं वइस पवर वइसवणसरिस, वण्णत्तयपेसण जणिय हरिस।
सुद्द वि विसुद्ध मग्गाणुगामि, तहिं राउ वसइ चउवण्णसामि।
घत्ता—अरिविंद कयंतु परवहुविंदहं दुल्लहु।
णामें अरविंदु अरिविंदालयवल्लहु॥

आत्मपरिचय

सिद्धिविलासिणि मणहर दूएं मुद्धाए वीतणु संभूएं
णिद्धण सधण लोयसमचित्तें सव्वजीवणिक्कारण मित्तें
सद्दसलिल परिवड्ढियसोत्तें केसवपुत्तें कासव गोत्तें
विमल सरासइ जणिय विलासें सुण्णभवण देवउल णिवासें
कलिमल पवल पडल परिचित्तें णिग्घरेण णिप्पुत्त कलत्तें
णई वावी तलाय सरण्हाणें जरचीवर वक्कल परिहाणें
धीरें धूली—धूसरियंगें दूरुय रुज्झिय दुज्जण संगें
महिसयणथलें करपंगुरणें मग्गिय पंडिय मरणें
मण्णखेड पुरवरे णिवसंतें मणे अरहंतु देउ झायंतें
भरह मण्णणिज्जें णयणिलयं कव्व पबंध जणिय जण पुलएं
पुप्फयंत कइणा धुयपंकें जइ अहिमाण मेरु णामकें
कयउ कव्वु भत्तिए परमत्थें जिणपयपंकजमउलियहत्थें
कोहण संवच्छरे आसाढए दहमए दियहे चंदरुइरूढए॥

"महापुराण"

धनपाल

[तिलक द्वीप में भविसयत्त का भ्रमण ।]

परिगलिय रयणि पयडिउ विहाणु ।
णं पुणु वि गवेसउ आउ भाणु ॥
जिणु संभरंतु संचलिउ धीरु ।
वणि हिण्डइ रोमंचिय-सरीरु ॥
सुणमित्तइं जायइं तासु ताम ।
गय पयहिणंति उड्डेवि साम ॥
वामंगि सुत्ति रुहुरुहइ वाउ ।
पिय-मेलावउ कुलुकुलइ काउ ॥
वामउ किलिकिंचउ लावएण ।
दाहिणउ अंगु दरिसिउ मएण ॥
दाहिणु लोअणु फंदइ सबाहु ।
णं भणइ एण मग्गेण जाहु ॥
थोणंतरि दिट्ठु पुराणपंथु ।
भविएण वि णं जिण-समय-गंथु ॥
सप्पुरिसु वियप्पइ "एण होमि ।
विज्जाहर सुर ण छिवंति भूमि ॥
णउ जक्खहं रक्खहं किण्णराहं ।
लइ इत्थु आसि संचरु णराहं" ॥
संचलिउ तेण पहेण जाम ।
गिरि-कंदरि सो वि पइट्ठ ताम ॥

चिन्तवइ धीरु सुंडीरु वीरु ।
"लइ को वि एउ भक्खउ सरीरु ॥
पइसरमि एण विक्कंतरेण ।
णिव्वडिउ कज्जु किं वित्थरेण ॥
घत्ता—दुत्तरु दुलंघु दूरंतरिउ ताम जाम संचरहिं णउ ।
भणु काइं ण सिज्झइ सउरिसहं अवगण्णन्तहं मरण-भउ ॥

[२]

सुहि सयण मरण-भउ परिहरेवि ।
अहिमाणु माणु पउरिसु सरेवि ॥
सत्तक्खर-अहिमंतणु करेवि ।
चंदप्पहु जिणु हियवइ धरेवि ॥
गिरिकंदरि विवरि पइट्ठु बालु ।
अन्तरिउ णाइं कालेण कालु ॥
संचरइ बहल-कज्जल-तमालि ।
णं जिउ वामोह-तमोह-जालि ॥
सेहउ णिरुद्ध पवणुच्छवेण ।
बाहिरिउ भमर-महुअर-रवेण ॥
चिन्तिउ अचिन्त-णिव्वुइ वसेण ।
कंटइउ असम-साहस-रसेण ॥
अणुसरइ जाम थोवंतरालु ।
तं णयरु दिट्ठु वक्काय-तमालु ॥
चउ-गोउर चउ-पायार-सारु ।
चउ-धवल-पओलि दुवार फारु ॥
मणि-रयण-कन्ति-कब्बुरिय देहु ।
सिय-कमल-धवल-पंडुरिय-गेहु ॥

घत्ता—तं तेहउ धणु कंचणु पउरु दिट्ठु कुमारिं वरणयरु।
सियवतु वि यणु विच्छाय-छवि णं विणु णीरिं कमल-सरु॥

[३]

त पुरं पविस्समाणएण तेण दिट्ठयं।
तं ण तित्थु किंपि जं ण लोयणाण इट्ठय॥
वावि-कूवसुप्पहूव सुपसण्ण वण्णयं।
मढ विहार देहुरेहिं सुट्ठु तं रवण्णयं॥
देव मन्दिरेसु तेसु अंतरं णियच्छए।
सो ण तित्थु जो कयाइ पुज्जिऊण पिच्छए॥
सुरहि-गंध-परिमलं पसूणएहि फंसए।
सो ण तित्थु जो करेण गिह्णिऊण वासए॥
पिक-सालि धण्णयं पणट्ठयम्मि ताणए।
सो ण तित्थु जो घरम्मि लेवि तं पराणए॥
सरवरम्मि पंकयाइं भमिर भमर कंदिरे।
सो ण तित्थु जो खुडेवि णेइ ताइं मंदिरे॥
हत्थ-गिज्झ वरफलाइं विंभएण पिक्खए।
केण कारणेण को वि तोडिउं ण भक्खए॥
पिच्छिऊण परधणाइं खुब्भएण लुब्भए।
अप्पणम्मि अप्पए वियप्पए सु चिन्तए॥
"पुत्ति-चोज्जु पट्टणं विचित्तबंध बंधयं।
बाहि भिच्छ तं अणं दुरक्खलेण लद्धयं॥
पुत्ति चोज्जु राउलं विचित्तभंगि भंगयं।
आसि इत्थु जं पहुं स माणिमो कहं गयं॥
पुत्ति चोज्जु कारणं ण माणिमो म संहमं।
एक्क-मित्तएहिं कस्स दिज्जए सुविब्भमं॥

घत्ता—विहुणिय सिरु भरडक्खिय-लोयणु,
पइं पइं विंभइ अणिमिस-जोअणु।
णवतरु पल्लवदल सोमालउ,
हिण्डइ तित्थु महापुरि बालउ॥

[४]

पिक्खइ मंदिराइं फलअद्धुग्घाटिय-जाल-गवक्खइं।
अद्ध-पलोइराइ णं णव-वहु-णयण-कडक्खइं॥
अह फलहंतरेण दिरिसिअ गुज्झंतर-देसइं।
अद्ध-पयंधिआइं विलयाण व उरु-पएसइं॥
पिक्खइ आवणाइं भरियंतर भंड-समिद्धइं।
पयडिय-पण्णयाइं णं णाइणि मउडइं चिंधइं॥
एक धणाहिलास-पुरिसाइ व रंधि पलित्तइं।
वरइत्त जुवाणइं णं वहु कुमारिहु चित्तइं॥
जोएसर-विवाय-करणाइं व जोइय-थंभइं।
विहडिय-णेसणाइं मिहुणाण व सुरयारंभइं॥
पिक्खइ गोउराइं परिवज्जिय-गो-पय-मग्गइं।
पासयंतराइं पवणुद्धुअ-धवल-धयग्गइं॥
जाइं जणाउलाइं चिरु आसि महंतर भवणाइं।
ताइं मि णिज्झुणाइं सुरयइं समत्तइं मिहुणाइं॥
जाइं णिरंतराइं चिरु पाणिय हारिहु कित्थइं।
ताइं वि विहि-वसेण हूअइं णासिह सुबुत्थइं॥

घत्ता—सियवंत णियाणइं णियवि तहो उम्माहउ अंगइं भरइ।
पिक्खंतु णियय-पडिबिंब-वणु ससिणउं सणियउं संचरइ॥
भमइ कुमारु विचित्तसरूवें।
सव्वंगि [illegible] भूएं॥

हा विहि पट्टण सुहु रवण्णउं ।
किर कज्जेण केण थिउ सुण्णउं ॥
हट्ट-मग्गु कुलसील णिउत्तहिं ।
सोह ण देइ रहिउ वणि-उत्तहि ॥
टिंटा-उत्तएहिं विणु टिंटउ ।
णं गय-जोव्वणाउ मयरट्टउ ॥
वरघर पंगणेहिं आहोयइं ।
सोह ण दिंति विवज्जिय लोयइं ॥
सोवण्णइ मि रसोइ-पएसइं ।
विणु सज्जणहिं णाइं परदेसइं ॥
घत्ता—हा किं वहुवाया वित्थरिण आएं दुहिण कोण भरिउ ।
तं केम पडीवउ संमिलइ जं खयकालिं अंतरिउ ॥

('भविसयत्त-कहा' से)

मुनि रामसिंह (राजस्थान, दसवीं सदी)

अप्पायत्तउ जं जि सुहु तेण जि करि संतोसु ।
परसुहु वढ चिंततहं हियइ ण फिट्टइ सोसु ॥ १ ॥
जं सुहु विसयपरंमुहउ णिय अप्पा झायंतु ।
तं सुहु इंदु वि णउ लहइ देविहिं कोडि रमन्तु ॥ २ ॥
सप्पिं मुक्की कंचुलिय जं विसु तं ण मुएइ ।
भोयहं भाउ ण परिहरइ लिंगग्गहणु करेइ ॥ ३ ॥
हउं गोरउ हउं सामलउ हउं वि विभिण्णउ वण्णि ।
हउं तणु अंगउ थूलु हउं एहउ जीव म मण्णि ॥ ४ ॥
णवि गोरउ णवि सामलउ णवि तुहुं एक्कु वि वण्णु ।
णवि तणु अंगउ थूलु णवि एहउ जाणि सवण्णु ॥ ५ ॥

हउं वरु बंभणु णवि वइसु णउ खत्तिउ णवि सेसु ।
पुरिसु णउंसउ इत्थि णवि एहउ जाणि विसेसु ॥ ६ ॥

देहहो पिक्खिवि जरमरणु मा भउ जीव करेहि ।
जो अजरामरु बंभु परु सो अप्पाण मुणेहि ॥ ७ ॥

अप्पा मिल्लिवि णाणमउ अवरु परायउ भाउ ।
सो छंडेविणु जीव तुहुँ झावहि सुद्ध सहाउ ॥ ८ ॥

पंचवलद्ध न रक्खइं णंदणवणु ण गओ सि ।
अप्पु ण जाणिउ णवि परु वि एमइ पव्वइओ सि ॥ ६ ॥

मणु मिलियउ परमेसरहो परमेसरु जि मणस्स ।
विण्णि वि समरसि हुइ रहिय पुज्ज चडावउं कस्स ॥१०॥

आराहिज्जइ देउ परमेसरु कहिं गयउ ।
वीसारिज्जइ काइं तासु जो सिउ सव्वंगउ ॥११॥

जाइ ण मरइ ण सम्भवइ जो परि कोवि अणन्तु ।
तिहुवण सामिउ णाणमउ सो सिवदेउ णिभंतु ॥१२॥

अब्भिंतरचित्ति वि मइलियइं बाहिरि काइं तवेण ।
चित्ति णिरंजणु को वि धरि मुच्चहि जेम मलेण ॥१३॥

हत्थ अहुट्ठहं देवली वालहं णाहि पवेसु ।
संतु णिरंजणु तहिं वसइ णिम्मलु होइ गवेसु ॥१४॥

बहुयइं पठियइं मूढ पर तालू सुक्कइ जेण ।
एक्कु जि अक्खरु तं पढहु सिवपुरि गम्मइ जेण ॥१५॥

हउं सगुणी पिउ णिग्गुणउ णिल्लक्खणु णीसंगु ।
एकहिं अङ्गहिं वसंतयहं मिलिउ ण अङ्गहिं अंगु ॥१६॥

छहदंसण धंधइ पडिय मणहं ण फिट्टिय भंति ।
एक्कु देउ छह भेउ किउ, तेण ण मोक्खहं जंति ॥१७॥

मुंडिय मुंडिय मुंडिया, सिरु मुंडिउ चित्तु ण मुंडिया ।
चित्तहं मुंडणु जिं कियउ संसारहं खंडणु तिं कियउ ॥१८॥

पुण्णेण होइ विहओ विहवेण मओ मएण मइमोहो ।
मइमोहेण णरयं तं पुण्णं अम्ह मा होउ ॥१९॥

कासु समाहि करउं को अंचउं
छोपु अछोपु भणिवि को वंचउं
हल सहि कलह केण सम्माणउं
जहिं जहिं जोवउं तहिं अप्पाणउं ॥२०॥

पत्तिय तोडहि तडतडह णाइं पइट्ठा उट्टु
एव ण जाणहि मोहिया को तोडइ को तुट्टु ॥ २१ ॥

पत्तिय तोडि म जोइया फलहिं जि हत्थु म वाहि
जसु कारणि तोडेहिं तुहुं सो सिउ एत्थु चडाहि ॥ २२ ॥

देवलि पाहणु तित्थिजलु पुत्थइं सव्वइं कव्वु
वत्थु जु दीसइ कुसुमियउ इंधणु होसइ सव्वु ॥ २३ ॥

अक्खर चडिआ मसिमिलिआ पाढ़ंता गय खीण
एक ण जाणी परमकला कहिं उग्गउ कहिं लीण ॥ २४ ॥

अग्गइं पच्छइं दह दिहहिं जहिं जोवउं तहिं सोइ
ता महु फिहिय भंतडी अवसु ण पुच्छइ कोइ ॥ २५ ॥

वणि देवलि तित्थइं भमहि आयासो वि णियन्तु
अम्मिय विहडिय भेडिया पसुलोगडा भमंतु
ससि पोखइ रवि पज्जलइ पवणु हलोले लेइ
सत्त रज्जु तमु पिल्लि करि कम्मह कालु गिलेइ ॥ २७ ॥

"पाहुड दोहा"

मुनि कनकामर (आसाइय, आशापुरी, बुंदेलखंड, ११ वीं का मध्य)

करकंड का अभियान

तं सुणिवि वयणु चंपाहिराउ सण्णज्झइ ता किर वद्धराउ
तावेत्तहिं दंतीपुरि णिवेण कंपाविय मेइणि मंदरेण
णिण्णासिय अरियण जीवयेण उड्डाविय दहदिसि-रय रणेण
णहु छायउ खलियउ रवि वयेण लहु दिण्णु पयाणउ कुद्धएण

गंगा का दृश्य

गंगा पएसु संपत्तएण गंगाणइ दिट्ठी जंतएण
सा सोहइ सिय जल कुडिलवंति णं सेयभुवंगहो महिल जंति
दूराउ वहंति अइविहाइ हिमवंतगिरिंदहो कित्ति णाइं
विहिं कूलहिं लोयहि ण्हंतएहिं आइच्चहो परिदिंतएहिं
दब्भंकिय उड्डुहिं करयंलेहिं णइ भणइ णाइं एयहिं छलेहिं
हउं सुद्धिय णियमग्गेण जामि मा रूसहि अम्हहो उवरि सामि
णइ पेक्खिवि णिउ करकंड णामु गउ जणण णयरू गुण गणियधामु
जें संगरि सुरवर खेयरहं भउ जणियउ धणुहर मुअसरहिं
तें वेढिउ पट्टणु चउदिसिहिं गयतुरह णरिंदहिं दुद्धरहिं

चम्पा नरेश द्वारा आक्रमण का प्रतिरोध

ताव सो उट्ठिओ धाइया किंकरा संगरे जेवि देवाण भीयंकरा
वाउवेया हया सज्जिया कुंजरा चक्कचिक्कार संचल्लिया रहवरा
हक्क डक्कार हुंकार मेल्लंतया धाविया केवि कुंताइं गेण्हंतया
केवि सम्माणु सामिस्स मण्णंतया पायपोम.ण रायस्स जे भत्तया
चावहत्था पसत्था रणेदुद्धरा धाविया ते णरा चारुचित्ता वरा
केवि कोवेण धावंति कप्पंतया केवि उग्गिण्ण खग्गेहिं दिप्पंतया
केवि रोमंचकंचेण संजुत्तया केवि सण्णाह संबद्ध संगत्तया

केवि संगामभूमिरिसे रत्तया सम्मिणीछंद मग्गेण सम्पत्तया
चंपाहिउ णिग्गउ पुरवरहो हरिकरिरहवर परियरिउ
उद्दंड चंड पीवर करहिं मणु केहिं ण केहिं ण अणुसरिउ

युद्ध वर्णन

ता हणइं तूराइं भुवणयल पूराइं
वज्जंति वज्जाइं सज्जंति सेण्णाइं
आणाए घडियाइं परवलइं भिडियाइं
कुंताइं भज्जंति कुंजरइं गज्जंति
रहसेण वग्गंति करिदसणे लग्गंति
गत्ताइं तुट्टंति मुंडाइं फुट्टंति
रुंडाइं धावंति अरिथाणु पावंति
अंताइं गुप्पंति रुहिरेण थिप्पंति
हड्डाइं मोडंति गीवाइं तोडंति

केवि भग्गा कायर जेवि णर केवि भिडिया केवि पुणु
खग्गुग्गमिय केवि भड मंडेविणु थक्का केवि रणु ।

'करकंड चरिउ'

आचार्य हेमचंद (गुजरात, बारहवी सदी)

गंगहे जम्बुणहे भीतरू मेल्लइ ।
सरसइ मज्झि हंसु जइ झिल्लइ ॥
तय सो केत्थु वि रमइ पहुत्तउ ।
जित्थु ठाइ सो मोक्खु निरुत्तउ ॥ १ ॥
विसयहं परवस मच्छहु मूढ़ा ।
बंधुहुं सहिहुं वि घल्लि कूडा ॥
दुहुं ससि सूरिहिं मणु संचारहु ।
बंधुहं सहिहं व वढ विणु सारहु ॥ २ ॥

जइ हिमिगिरिहि चडेविणु निवडइ ।
अट्ट पयाय तरुहि वि इक्क मणु ।।
निक्कइअवें विणु समयाचारेंण ।
विणुमणसुद्धिए लहइ न सिवु जणु ।। ३ ।।
वज्जइ वोण अदिट्ठिहि तन्तिहि ।
उट्ठइ रणिउ हणन्तउँ ठाणइं ।।
जहिं बीसाम्बुँ लहह तं झायहु ।
मुत्तिहें कारणि चप्फल अन्नइं ।। ४ ।।
सव्वइं वयणइं जो ब्रुवइ उवसमु वुच्चइ पहाणु ।
प्रस्सदि सत्तु वि मित्तु जिम्वँ सो गृण्हइ णिव्वाणु ।। ५ ।।
जमुण गमेप्पि गमेप्पिणु जन्हवि ।
गम्पि सरस्सइ गम्पिणु नर्मद ।।
लोउ अजाणउ जं जलि वुड्डइ ।
तं पसु किं नीरइं सिवसर्मद ।। ६ ।।

पुरानी हिन्दी

प्रबंध चिंतामणि

अम्मणिओ संदेसडओ नारय कन्ह कहिज्ज ।
जगु दालिद्दिहि डुब्बिउं बलिबंधणह मुहिज्ज ॥ १ ॥
ऊग्या ताविउ जहिं न किउ लक्खउ भणइ निघट्ट ।
गणिया लब्भइ दीहडा किउ दह अहवा अट्ठ ॥ २ ॥
मुंज खडल्ला दोरडी पेक्खेसि न गम्मारि ।
आसाढ़ि घण गज्जीइँ चिक्खिलि होसे वारि ॥ ३ ॥
मुंज भणइ मुणालवइ जुब्वण गयउं न झूरि ।
जइ सक्कर सय खंड थिय तो इस मीठो चूरि ॥ ४ ॥
सउ चित्तहं सट्ठी मणहं बत्तीसडा हियाहं ।
अम्मी ते नर ढड्ढसी जे वीससइं तियाहं ॥ ५ ॥
झाली तुट्टी किं न मुउ किं न हुयउ छारपुंज ।
हिंडइ दोरीबंधीयउ जिम मक्कड तिम मुंज ॥ ६ ॥
गय गय रह गय तुरग गय पायकडा निभिच्च ।
सग्गट्ठिय करि मन्तणउं मुहुतां रुद्दाइच्च ॥ ७ ॥
भोलि मुन्धि मा गव्वु करि पिक्खिवि पडुगुपाइं ।
चउदहइ सइं छहुत्तरइं मुञ्जह गयह गयाइं ॥ ८ ॥
जा मति पच्छइ संपज्जइ सा मति पहिली होइ ।
मुंज भणइ मुणालवइ विघन न वेढइ कोइ ॥ ९ ॥

सायरू खाइ लंक गढ़ गढ़वइ दससिरु राउ।
भग्गक्खइ सो भज्जि गउ मुंज म करसि विसाउ ॥१०॥

बापो विद्वान् बापपुत्रोऽपि विद्वान्
आइ आइधुआपि विउषी।
काणी चेटी सापि विउषी वराकी
राजन् मन्ये विद्धअपुर्व्वं कुटुम्बम् ॥११॥

जइआ रावणु जाइयउ दहमुहु इक्कसरीरु।
जणणि वियम्भी चिन्तवइ कवणु पियावउं खीरु ॥१२॥
कवणिहिं विरहकरालिअइं उड्डावियउ वराउ।
सहि अचम्भुव दिट्ठ मइं कंठि विलुल्लइ काउ ॥१३॥
एहु जम्मु नग्गहं गियउ भडसिरि खग्गु न भग्गु।
तिक्खां तुरिय न माणिया गोरीगलि न लग्गु ॥१४॥
नव जल भरीया मग्गड़ा गयणि धडक्कइ मेहु।
जइ इत्थन्तरि आविसिइ तउ जाणीसिइ नेहु ॥१५॥
भोय एहु गलि कण्ठलउ भण केहउ पडिहाइ।
उरि लच्छिहि मुहि सरसितिहि सीम निबद्धी काइं ॥१६॥
माणुसड़ा दसदस दसा सुनियइ लोय पसिद्ध।
महु कंतह इक्कज दसा अवरि ते चोरिहिं लिद्ध ॥१७॥
कसु करु रे पुत्र कलत्र धी कसु करु रे करसण बाड़ी।
एकला आइवो एकला जाइवो हाथपग बेहुझाड़ी ॥१८॥
को जाणइ तुह नाह चीतु तुहालउ चक्कवइ।
लहु लंकह लेवाह मग्गु निहालइ करणउत्तु ॥१९॥
सइरु नहीं स राण न कुलाइउ नकुलाइ ई।
सउ खक्कारिहिं प्राण कि न वइसानिरि होमोइ ॥२०॥
राणा सव्वे वाणिया जेसुल वड्डउ सेठि।

काहूं वणिजड माण्डीयउ अम्मीणा गढ़ हेठि ॥२१॥
तइं गढ़ूआ-गिरनार काहूँ मणि मत्सरु धरिउ ।
मारीतां खङ्गार एक सिहरु न ढालियउं ॥२२॥
जैसल मोडि म वाह वलि वलि विरूएं भावियइ ।
नइ जिम नवा प्रवाह नवघण विणु आवइ नहि ॥२३॥
वाढी तउ वढवाण, वीसरतां न वीसरइ ।
सूना समा पराण भोगावह पइं भोगवइ ॥२४॥
आपण पइ प्रभु होइअइ कइ प्रभु कीजई हत्थि ।
कज्ज करेवा माणुसह तीजउ मग्गु न अत्थि ॥२५॥
सोहग्गिउं सहिकखुयउ जुत्तउं ताणु करेइ ।
पुट्ठिहिं पच्छइ, तरुणियणु जसु गुणगहण करेइ ॥२६॥
लच्छिवाणि मुह काणि सा भागी हउं मरउं ।
हेमसूरिअच्छाणि जे ईसर ते पंडिया ॥२७॥
हेम तुहाला कर मरउं जीह अञ्भुय रिद्धि ।
जे चंवह हिट्ठामुहा तांस ऊपहरी सिद्धि ॥२८॥
इक्कह फुल्लह मांटि सामिउ देयउ सिद्धिसुहु ।
तिणि सउं केही साटि कटरे भोलिम जिणवर ॥२९॥
महिवीढह सचराचरह जिण सिरि दिण्णा पाय ।
तसु अत्थमणु दिणेसरह होउत होइ चिराय ॥३१॥
नवि मारीयए नवि चोरीयए परदारगमण निवारीयए ।
थोवा विहु थोवं दाइयए इमि सग्गि टगमगु जाईयए ॥३२॥

———

पहला भाग

माणि पणट्ठइ जइ न तणु तो देसडा चइज्ज ।
मा दुज्जनकरपल्लविहिं दंसिज्जंतु भमिज्ज ।।
खड्ग खडाविय सइं छगल सइं आरोविय रुक्ख ।
पइं जि पवत्तिय जन्न सइं किं बुब्बुयहि मुरुक्ख ।।
वसइ कमलि कलहंसि जिवँ जीवदया जसु चित्ति ।
तसु पय पक्खालण-जलिण होसइ असिव निवित्ति ।।
आभरण-किरण-दिप्पंत-देह अहरीकिय-सुरवहू-रूपरेह ।
घण-कुंकुम-कद्दम घर दुवारि खुप्पंत-चलण नचंत नारि ।।
तीयह तिन्नि पियाराइं कलि कज्जल सिंदूरु ।
अन्नइ तिन्नि पियाराइं दुद्धु जम्बाइ उ तूरु ।।
नरवइ आण जु लंघिहइ वसि करिहइ जु करिंदु ।
हरिहइ कुमरि जु कणगवइ होसइ इह सु नरिंदु ।।
यह कोइल–कुल–रव–मुहुलु भुवणि वसंतु पयट्ठु ।
भट्टु व मयण–महा–निवह पयडिअ–विजय मरट्ठु ।।
सूर पलोइवि कंत-करु उत्तर–दिसि–आसत्तु ।
नीसासु व दाहिण-दिसय मलय-समीर पवत्तु ।।
काणण–सिरि सोहइ अरुण–नव–पल्लव परिणद्ध ।
नं रत्तंसुय–पाविरिय महु–पिययम–संबद्ध ।।
सहयारिहि मंजरि सहहिं भमर–समूह-सणाह ।
जालाउ व मयणानलह पसरिय–धूम–पवाह ।।

वड-रुक्खह दाहिण-दिसिहिं जाइ विदब्भहिं मग्गु ॥
वाम-दिसिहि पुण कोसलिहि जहिं रुच्चइ तहिं लग्गु ॥
निट्ठुर निक्किवु काउरिसु एकुजि नलु न हु भंति ।
मुक्कि महासइ जेण वणि निसि सुत्ती दमयंति ॥
नलगिरि हत्थिहिं मइं ठितइं सिवदेवेहि उच्छंगि ।
अग्गिभीरु रह दारुइहि अग्गि देहि मह अंगि ॥
करिवि पईवु सहस्सकरु नगरी मज्झिण सामि ।
जइ न रडतु तइं हरउं अग्गिहिं पविसामि ॥
वेस विसिट्ठह वारियइ जइ वि मणोहर-गत्त ।
गंगाजलपक्खालिय वि सुणिहि किं होइ पवित्त ॥
नयणिहि रोयइ मणि हसइ जणु जाणइ सउतत्तु ।
वेस विसिट्ठह तं करइ जं कट्ठह करवत्तु ॥
पिय हउं थक्किय सयलु दिणु तुह विरहग्गि किलंत ।
थोडइ जल जिम मच्छलिय तल्लोविल्लि करंत ॥
मइं जाणिउ पियविरहिअह कवि धर होइ वियालि ।
णवर मयंकु वि तिह तवइ जिह दिणयरु खयकालि ॥
अज्जु विहाणउ अज्जु दिणु अज्जु सुवाउ पवत्तु ।
अज्जु गलत्थिउ सयलु दुहु जं तुहुं मह परिपत्तु ॥
पडिवज्जिवि दय देव गुरु देवि सुपत्तिहि दाणु ।
विरइवि दीणजणुद्धरणु 'करि सभलउं अप्पाणु' ॥
पुत्तु जु रंजइ जणयमणु थी आराहइ कंतु ।
भिज्जु पसन्नु करइ पहु 'इहु भल्लिम पज्जंतु' ॥
मरगय वन्नह पियह उरि पिय चंपयपहदेह ।
कसवट्टइ दिन्निय सहइ नाइ सुवन्नह रेह ॥
चूडउ चुन्नी होइसइ मुद्धि कवोलि निहत्तु ।
सासानलिण झलक्कियउ वाहसलिलसंसित्तु ॥

हउं तुह तुट्ठउ निच्छइण मग्गि मणिच्छिउ अज्जु ।
तो गोवालिण वज्जरिउ पहु मह वियरहि रज्जु ॥
अडविहि पत्ती नइहि जलु तो वि न दूहा हत्थ ।
अव्वो तह कब्बाडियह अज्ज विसज्जिय वत्थ ॥
जे परदार-परम्मुहा ते वुच्चहिं नरसीह ।
जे परिरंभहि पररमणि ताहं फुसिज्जइ लीह ॥
एक्कु दुन्नय जे कया तेहिं नीहरिय घरस्स ।
बीजा दुन्नय जइ करउं तो न मिलउं पियरस्स ॥
अम्हे थोड़ा रिउ बहुअ इउ कायर चिंतंति ।
मुद्धि निहालहि गयणयलु कइ उज्जोउ करंति ॥
सो जि वियक्खणु अक्खियइ छज्जइ सोज्जि छइल्लु ।
उप्पह-पट्ठिओ पहि ठवइ चित्तु जु नेह-गहिल्लु ॥
रिद्धि विहूणह माणुसह न कुणइ कुवि संमाणु ।
सउणिहि मुच्चउ फलरहिउ तरुवरु इत्थु पमाणु ॥

जइवि हु सूरु सुरूवु वियक्खणु ।
तहवि न सेवइ लच्छि पइक्खणु ॥

पुरिस-गुणागुण-मुणण-परम्मुह ।
महिलह बुद्धि पयंपहि जं वुह ॥

जेण कुलक्कमु लंघियइ अवजसु पसरइ लोइ ।
तं गुरु-रिद्धि-निबंधणु वि न कुणइ पंडिओ कोइ ॥
जं मणु मूढह माणुसह वंछइ दुल्लह वत्थु ।
तं ससि-मंडल-गहण किहि गयणि पसारइ हत्थु ॥
सीहु दमेवि जु वाहिहइ इक्कु वि जिणिहइ सत्तु ।
कुमरि पियंकरि देवि तसु अप्पहु रज्जु समत्तु ॥

सोमप्रभ और सिद्धपाल की रचित कविता

कुलु कलंकिउ मलिउ माहप्पु
मलिणीकय सयणमुह
दिन्नु हत्थु नियगुण कडप्पह
जगु झंपियो अवजसिण
वसण विहिय सन्निहिय अप्पह

दूरह वारिउ भद्दु तिणि ढक्किउ सुगइदुवारु।
उभयभवुब्भडदुक्खकरु कामिउ जिण परदारु॥

पिइ माय भाय सुकलत्तु पुत्तु
पहु परियणु मित्तु सणेहजुत्तु।
पहवंतु न रक्खइ कोवि मरणु
विणु धम्मह अन्नु न अत्थि सरणु॥
राया वि रंकु सयणो वि सत्तु
जणओ वि तणउ जणणि वि कलत्तु
इह होइ नडु व्व कुकम्मवंतु
संसाररंगि बहुरूवु जंतु॥
एकल्लउ पावइ जीवु जम्मु
एकल्लउ मरइ विढत कम्मु।
एकल्लउ परभवि सहइ दुक्खु
एकल्लउ धम्मिण लहइ मुक्खु॥

जहिं रत्त सहहि कुसुमिय पलास नं फुट्टए पहियगण हियमास।
सहयारिहि रेहहि मंजरीओ नं मयण जलण जालावलीओ॥
जहि दुट्ठ नरिंदु व सयबु भुवणु परिपीडइ तिव्वकरेहिं तवणु।
जहि दूहव महिलय जण समग्ग संतावइ सूय सरीर लग्गु॥

जं तिजुत्तम-रूव वक्खित्तु
खण बंभु चउमुहु हुउ
धरइ गारि अद्धंगि संकरु
कंदप्पपरवसु चलण
जं पियाइ पणमइ पुरंदरु

जं केसवु नच्चावियउ गोठंगणि गोवीहिं ।
इंदियवग्गह विप्फुरिओ तं वन्नियह कईहिं ॥

वालत्तणु असुइ-विलित्ति-देहु
दुहकर दंसणुग्गम कन्नवेहु ।
चिंतंतह सव्व विवेय रहिउ
मह हियउं होइ उकंपसहिउ ॥
ईसा-विसाय-भय-मोह-माय ।
भय-कोह-लोह-वम्मह-रमाय ॥
मह समागयस्स वि पिट्ठि लग्ग ।
ववहरय जेव रिणिअह समग्ग ॥

जसु वयण विणिजिउ नं ससंकु अप्पाण निसिहि दंसइ ससंकु ।
जसु नयणकंति जिय लज्जभरिण वणवासु पवन्नय नाइ हरिण ॥८॥

नंदु जंपइ पढइ परकव्व
कह एस वररुइ सुकइ
कहइ मंति यह धूय सत्त वि
एयाइं कव्वाइं
पहु पढइं वालाउ हुंत वि

तत्थ तुम्ह नरनाह जइ मणि वट्टइ संदेहु ।
ता पढंतिय कोउगेण ता तुम्हें निसुणेहु ॥९॥

खिविवि मंभिहिं सलिल दीणार
गोसग्गि सुरसरि थुणइ
हणइ जंतसचारु पाइण
उच्छिलिवि ते वि वररुइहिं
चडहिं हत्थि तेण घाइण
लोउ पइंपइ वररुइह गंग पसन्निय देइ।
मुणिवि नंदु वुत्तंतु इहु सयडालस्स कहेइ ॥१०॥
तीइ वुत्तइ सो सनिव्वेउ
मा खिज्जसि किंचि तुहं
झत्ति वच्च नेवालमंडलु
तहं देइ सावउ निवइ
लक्खु मुल्लु साहुस्स कंवलु
सो तहिं पत्तउ दिट्ठु निवु दिन्नइ कंवल तेण।
तं गोविव दंडय तलइ तो वाहुडिउ जवेण ॥११॥
तो मुक्कउ गउ दित्तु तिण कंवलु कोसहि हत्थ।
सी पेच्छंतह तीइ तसु खित्त खालि अपसत्थि ॥१२॥
समणु दुम्मणु भणइ तो एउ
बहुमुल्लु कंवलरयणु
कीस कोसि पइं क्खालि खित्तउ
देसंतरि परिभमिवि
मइं महंत दुक्खेण पत्तउं
कोस भणइ, महापुरिस तुहुं कंवलु सोएसि।
जं दुलहु संजम-रयणु हारिस, तं न मुणेसि ॥१३॥
गयणमग्गसंलग्गालोलकल्लोलपरंपरु
निक्करुणुक्कडनक्कचक्कचंकमणदुहंकरु

उच्छलंतगुरुपुच्छमच्छरिंछोलिनिरंतरु
विलसमाणजालाजडालवडवानलदुत्तरु ।।
आवत्तसयायलु जलहि लहु गोपउ जिम्ब ते नित्थरहिं ।
नीसेसवसनगणनिट्ठवणु पासनाहु जे संभरहिं ।।१४।।

आचार्य हेमचंद

गिरिहें वि आणिउ पाणिउ पिज्जइ,
तरुहें वि निवडिउ फलु भक्खिज्जइ ।
गिरिहुँ व तरुहुँ व पडिअउ अच्छइ,
विसयहिं तहवि विराउ न गच्छइ ।।१।।
जो जहाँ होतउ सो तहाँ होतउ,
सत्तु वि मित्तु वि किहेंविहु आवहु ।
जहिंविहु तहिंविहु मग्गो लीणा,
एकएँ दिट्ठिहि दोन्निवि जोअहु ।।२।।
अम्हे निन्दहु कोवि जणु, अम्हइ वण्णउ कोवि ।
अम्हे निन्दहुँ कंवि नवि, नअम्हइं वण्णहुं कंवि ।।३।।
रे मण करसि कि आलड़ी, विसया अच्छहु दूरि ।
करणइँ अच्छह रुन्धिअइं, कड्डउं सिवफलु भूरि ।।४।।
संजम-लीणहों मोक्खसुहु निच्छइं होसइ तासु ।
पिय बलि कीसु भणन्तिअउ णाइं पहुच्चहिं जासु ।।५।।
कउ वढ भमिअइ भवगहणि मुक्ख कहन्तिहु होइ ।
एँहु जाणेवउं जइ मणसि तो जिण आगम जोइ ।।६।।
निअम-विहूणा रत्तिहिवि खाहिं जि कसरक्केहिं ।
हुहुरु पडन्ति ति पावद्रहि भमडहिं भवलक्खेहिं ।।७।।
सग्गहों केहिं करि जीवदय दमु करि मोक्खहों रेसि ।
कहि कसु रेसिं तुहुं अवर कम्मारम्भ करेसि ।।८।।

कायकुडुल्ली निरु अथिर जोवियडउ चलु एहु ।
ए जाणिवि भवदोसडा असुहउ भावु चएहु ॥९॥
ते धन्ना कन्नुल्लडा हिअउल्ला ति कयत्थ ।
जो खणिखणिवि नवुल्लडअ घुण्टहि धरहिं सुअत्थ ॥१०॥
पइठी कन्नि जिणागमहो वत्तडिआवि हु जासु ।
अम्हारउँ तुम्हारउँ वि एहु ममत्तु न तासु ॥११॥

दूसरा भाग

ढोल्ला सामला धण चम्पा-वण्णी ।
णाइ सुवण्ण-रेह कस-वट्टइ दिण्णी ॥१॥
ढोल्ला मइं तुहुं वारिया मा कुरु दीहा माणु ।
निद्दए गमिही रत्तडी दडवड होइ विहाणु ॥२॥
बिट्टीए मइ भणिय तुहुं मा कुरु वङ्की दिट्ठी ।
पुत्ति सकण्णी भल्लि जिवँ मारइ हिअइ पविट्ठि ॥३॥
एइ ति घोडा एह थलि एइ ति निसिआ खग्ग ।
एत्थु मुणीसम जाणीअइ जो नवि वालइ वग्ग ॥४॥
दहमुहु भुवण-भयंकरु तोसिअ-संकरु णिग्गउ रह-वरि चडिअउ ।
चउमुहु छंमुहु झाइवि एक्कहिं लाइवि णावइ दइवें घडिअउ ॥
अगलिअ-णेह-निवट्टाहं जोअण-लक्खुवि जाउ ।
वरिस-सएण वि जो मिलइ सहि सोक्खहँ सो ठाउ ॥६॥
अङ्गहिं अङ्ग न मिलिअउ हलि अहरें अहरु न पत्तु ।
पिअ जोअन्तिहे मुह-कमलु एम्वइ सुरउ समत्तु ॥७॥
जे महु दिण्णा दिअहडा दइएं पवसन्तेण ।
ताण गणन्तिए अङ्गुलिउ जज्जरियाउ नहेण ॥८॥
सायरु उप्परि तणु धरइ तलि घल्लइ रयणाइं ।
सामि सुभिच्चु वि परिहरइ सम्माणेइ खलाइं ॥९॥
गुणहिं न संपइ कित्ति पर फल लिहिआ भुञ्जन्ति ।
केसरि न लहइ बोड्डिअ वि गय लक्खेहि घेप्पन्ति ॥१०॥

वच्छहे गृण्हइ फलइं जणु कडुपल्लव वज्जेइ ।
तोवि महद्दुमु सुअणु जिवँ ते उच्छङ्गि धरेइं ॥११॥

दूरुड्डाणें पडिउ खलु अप्पणु जणु मारेइ ।
जिह गिरि-सिङ्गहुँ पडिअ सिल अन्नुवि चूर करेइ ॥१२॥

जो गुण गोवइ अप्पणा पयडा करइ परस्सु ।
तसु हउं कलिजुगि दुल्लहहो बलि किज्जउं सुअणस्सु ॥१३॥

तणहं तइज्जी भङ्गि नवि तें अवडयडि वसन्ति ।
अह जणु लग्गिवि उत्तरइ अह सह सइं मज्जन्ति ॥१४॥

दइवु घडावइ वणि तरुहुँ, सउणिहं पक्क फलाइं ।
सो वरि सुक्खु पइट्ठ णवि कण्णहिं खलवयणाइं ॥१५॥

धवलु विसूरइ सामिअहो गरुआ भरु पिक्खेवि ।
हउं कि न जुत्तउं दुहुँ दिसिहिं खण्डइं दोण्णि करेवि ॥१६॥

गिरिहे सिलायलु तरुहे फल घेप्पइ नीसावँन्नु ।
घरु मेल्लेप्पिणु माणुसहं तोवि न रुच्चइ रन्नु ॥१७॥

तरुहुँ वि वक्कलु फल मुणि वि परिहणु असणु लहन्ति ।
सामिहुँ एत्तिउ अग्गलिउँ आयरु भिच्चु गृहन्ति ॥१८॥

अग्गिएं उण्हउ होइ जगु वाए सीअलु तेवँ ।
जो पुणु अग्गिं सीअला तसु उण्हत्तणु केवँ ॥१९॥

विप्पिअ-आरउ जइवि पिउ तोवि तं आणहि अज्जु ।
अग्गिण दड्ढउ जइवि घरु तो तें अग्गिं कज्जु ॥२०॥

जिवँ जिवँ वंकिम लोअणहं णिरु सामलि सिक्खेइ ।
तिवँ तिवँ वम्महु निअय सरु खर-पत्थरि तिक्खेइ ॥२१॥

संगरसएहिं जु वण्णिअइ देक्खु अम्हारा कन्तु ।
अइमत्तहं चत्तङ्कुसहं गयकुम्भइं दारन्तु ॥२२॥

तरुणहो तरुणिहो मुणिउ मइं करहु म अप्पहो घाउ ॥२३॥
भाईरहि जिवँ भारइ मग्गेहिं तिहिंवि पवट्टइ ॥२४॥
सुन्दर-सव्वङ्गाउ विलासिणीओ पेच्छन्ताण ॥२५॥
निअ मुह-करहिं वि मुद्ध कर अन्धारइ पडिपेक्खइ ।
ससि-मण्डल-चन्दिमए पुणु काइँ न दूरे देक्खइ ॥२६॥

तुच्छ-मज्झहे तुच्छजम्पिरहे ।
तुच्छच्छ रोमावलिहे तुच्छराय तुच्छयर-हासहे,
पियवयणु अलहन्तिहे,
तुच्छ-काय-वम्मह-निवासहे,

अन्नु जु तुच्छउँ तहे धणहे तं अक्खणह न जाइ ।
कटरि थणंतरु मुद्धडहे जें मणु विच्चि ण माइ ॥२७॥
भल्ला हुआ जु मारिआ, बहिणि महारा कन्तु ।
लज्जेज्जं तु वयंसिअहु जइ भग्गा घरु एन्तु ॥२८॥
वायसु उड्डावन्तिअए पिउ दिट्ठउ सहसत्ति ।
अद्धा वलया महिहि गय अद्धा फुट्ट तडत्ति ॥२९॥
कमलइं मेल्लवि अलि-उलइं करिगण्डाइं महन्ति ।
असुलहमेच्छण जाहं भलि ते णवि दूर गणन्ति ॥३०॥
भग्गउं देक्खिवि निअय बलु बलु पसरिअउं परस्सु ।
उम्मिल्लइ ससि-रेह जिवँ करि करवालु पियस्सु ॥३१॥
जइ तहो तुट्टउ नेहडा मइं सहुं नवि तिल-तार ।
तं किह वङ्केहिं लोअणेहिं जोइज्जउं सय-वार ॥३२॥
जहिं कप्पिज्जइ सरिण सरु छिज्जइ खग्गिण खग्गु ।
तहिं तेहइ भड-घड निवहि कन्तु पयासइ मग्गु ॥३३॥
एक्कहिं अक्खिहिं सावणु अन्नहिं भद्दवउ ।
माहउ महिअल-सत्थरि गण्डत्थले सरउ ॥३४॥

अङ्गहि गिम्ह सुहच्छी-तिल-वणि मग्गसिरु ।
तहे मुद्धहे मुह-पङ्कइ आवासिउ सिसिरु ॥३५॥
हियडा फुट्टि तडत्ति करि कालक्खेवें काइं ।
देक्खउं हय-विहि कहिं ठवइ पइं विणु दुक्खु सयाइं ॥३६॥
कन्तु महारउ हलि सहिए निच्छइं रूसइ जासु ।
अत्थिहिं सत्थिहिं हत्थिहिं वि ठाउवि फेडइ तासु ॥३७॥
जीविउ कासु न वल्लहउं धणु पुणु कासु न इट्ठु ।
दोण्णिवि अवसर निवडिआइं तिण सम गणइ विसिट्ठु ॥३८॥
प्रङ्गणि चिट्ठदि नाहु ध्रुं त्रं रणि करदि न भ्रन्त्रि ।३९॥
एह कुमारी एहो नरु एहु मणोरह-ठाणु ।
एहउं वढ चिन्तन्ताहं पच्छह होइ विहाणु ॥४०॥
जइ पुच्छह घर बड्डाइं तो बड्डा घर ओइ ।
विहलिय-जण-अब्भुद्धरणु कन्तु कुडीरइ जोइ ॥४१॥
आयइं लोअहो लोअणइं जाईसरइं न भन्ति ।
अप्पिए दिट्ठइ मउलइं पिए दिट्ठइ विहसन्ति ॥४२॥
सोसउ म सोसउ च्चिअ उअही वडवानलस्य किं तेण ।
ज जलइ जले जलणो आएण वि किं न पज्जत्तं ॥४३॥
आयहो दड्ढ-कलेवरहो जं वाहिउ तं सारु ।
जइ उट्टब्भइ तो कुहइ अह डज्झइ तो छारु ॥४४॥
साहु वि लोउ तडप्फडइ वड्डत्तणहो तणेण ।
वड्डप्पणु परिपाविअइ हत्थिं मोक्कलडेण ॥४५॥
जइ सु न आवइ दूइ घरु काइं अहोमुहु तुज्झु ।
वयणु जु खण्डइ तउ सहिए सो पिउ होइ न मज्झु ॥४६॥
सुपुरिस कङ्गुहे अणुहरहिं भण कज्जें कवणेण ।
जिवँ जिवँ वड्डत्तणु लहहिं तिवँ तिवँ नवहिं सिरेण ॥४७॥

जइ ससणेही तो मुइअ अह जीवइ निन्नेह ।
बिहिंवि पयारेहिं गइअ धण किं गज्जहि खल मेह ॥४८॥
भमरु म रुणुझुणि रण्णडइ सा दिसि जोइ म रोइ ।
सा मालइ देसन्तरिअ जसु तुहुँ मरहि विओइ ॥४६॥
पइं मुक्काहं वि वर-तरु फिट्टइ पत्तत्तणं न पत्ताणं ।
तुम्ह पुणु छाया जइ होज्ज कहवि ता तेहिं पत्तेहिं ॥५०॥
महु हियउं तइं ताए तुहुं सवि अन्नें विनडिज्जइ ।
पिअ काइं करउं हउं काइं तुहुं मच्छें मच्छु गिलिज्जइ ॥५१॥
पइं मइं बेहिवि रणगयहि को जयसिरि तक्केइ ।
केसहिं लेप्पिणु जम-घरिणी भण सुहु को थक्केइ ॥५२॥
पइं मेलन्तिहे महु मरणु मइं मेल्लन्तहो तुज्झु ।
सारस जसु जो वेग्गाला सोवि कृदन्तहो सज्झु ॥५३॥
तुम्हेहिं अम्हेहि जे किअउं दिट्ठउं बहुअजणेण ।
तं तेवड्डउं समर भर निज्जिउ एक-खणेण ॥५४॥
तउ गुण-संपइ तुज्झु मदि तुध्र अणुत्तर खन्ति ।
जइ उप्पत्ति अन्न जण महि-मंडलि सिक्खन्ति ॥५५॥
अम्हे थोवा रिउ बहुअ कायर एम्व भणन्ति ।
मुद्धि निहालहि गयणयलु कइजण जोण्ह करन्ति ॥५६॥
अम्बणु लाइवि जे गया पहिअ पराया केवि ।
अवस न सुअहिं सुहच्छिअहिं जिवँ अम्हइ तिवँ तेवि ॥५७॥
मइं जाणिउं पियविरहिअहं कवि धर होइ विआलि ।
णवर मिअङ्कुवि तिह तवइ जिह दिणयरु खयगालि ॥५८॥
महु कन्तहो वे दोसडा हेल्लि म झङ्खहि आलु ।
देन्तहो हउं पर उव्वरिअ जुज्झन्तओ करवालु ॥५६॥

जइ भग्गा पारक्कडा तो सहि मज्झु पिएण ।
अह भग्गा अम्हहंतणा तो तें मारिअडेण ॥६०॥

मुह कवरिबन्ध तहे सोह धरहिं
नं मल्लजुज्झ ससिराहु करहिं ।
तहे सहहि कुरल भमर-उल-तुलिअ
नं तिमिरडिम्भ खेलन्ति मिलिअ ॥६१॥

बप्पीहा पिउ पिउ भणवि कित्तिउ रुअहि हयास ।
तुह जलि महु पुणु वल्लहइ बिहुवि न पूरिअ आस ॥६२॥
बप्पीहा कइं बोल्लिएण निग्घिण वारइवार ।
सायर भरिअइ विमल जलि लहहि न एक्कइ धार ॥६३॥

आयहिं जम्महिं अन्नहिं वि गोरि सु दिज्जहि कन्तु ।
गय मत्तहं चत्तङ्कुसहं जो अब्भिडहि हसन्तु ॥६४॥
बलि अब्भत्थणि महुमहणु लहुईहूआ सोइ ।
जइ इच्छहु वड्डत्तणउं देहु म मग्गहु कोइ ॥६५॥

विहि विनडउ पीडन्तु गह मं धणि करहि विसाउ ।
संपइ कड्ढउं वेस जिवँ छुडु अग्घइ ववसाउ ॥६६॥
खग्ग-विसाहिउ जहिं लहहुं पिय तहिं देसहिं जाहुं ।
रणदुब्भिक्खे भग्गाइं विणु जुज्झें न वलाहुँ ॥६७॥
कुञ्जर सुमरि म सल्लइउ सर सास म मेल्लि ।
कवल जि पाविय विहिवसिण ते चरि माणु म मेल्लि ॥६८॥
भमरा एत्थु वि लिम्बडइ केवि दियहडा विलम्बु ।
घण-पत्तलु छाया बहुलु फुल्लहिं जाम कयम्बु ॥६९॥
प्रिय एम्वहिं करे सेल्लु करि छड्डहि तुहुं करवालु ।
ज कावालिय बप्पुडा लेहिं अभग्गु कवालु ॥७०॥

दिअहा जन्ति झडप्पडहिँ पडहिं मणोरह पच्छि ।
जं अच्छइ तं माणिअइ होसइ करतु म अच्छि ॥ ७१ ॥
सन्ता भोग जु परिहरइ तसु कन्तहो बलि कीसु ।
तसु दइवेण वि मुण्डियउं जसु खल्लिहडउं सीसु ॥ ७२ ॥
अइतुंगत्तणु जं थणहं सो च्छेयहु न हु लाहु ।
सहि जइ केवँइ तुडिवसेण अहरि पहुच्चइ नाहु ॥ ७३ ॥
इत्तउं ब्रोप्पिणु सउणि ट्ठिउ पुणु दूसासणु ब्रोप्पि ।
तो हउं जाणउं एहो हरि जइ महु अग्गइ ब्रोप्पि ॥ ७४ ॥
जिव तिवँ तिक्खा लेवि कर जइ ससि छोल्लिज्जन्तु ।
तो जइ गोरिहे मुह-कमलि सरिसिम कावि लहन्तु ॥ ७५ ॥
चूडुल्लउ चुण्णीहोइसइ मुद्धि कवोलि निहित्तउ ।
सासानल जाल झलक्किअउ वाह-सलिल-संसित्तउ ॥ ७६ ॥
अब्भड वंचिउ बे पयइं पेम्मु निअत्तइ जावँ ।
सव्वासण रिउ संभवहो कर परिअत्ता तावँ ॥ ७७ ॥
हिअइ खुडुक्कइ गोरडी गयणि घुडुक्कइ मेहु ।
वासा रत्ति पवासुअहं विसमा संकडु एहु ॥ ७८ ॥
अम्मि पओहर वज्जमा निच्चु जे सम्मुह थन्ति ।
महु कंतहो समरङ्गणइ गयघड भज्जिउ जन्ति ॥ ७९ ॥
पुत्तें जाएं कवणु गुणु अवगुणु कवणु मुएण ।
जा बप्पीकी भुंहडी चम्पिज्जइ अवरेण ॥ ८० ॥
त तेत्तिउ जलु सायरहो सो तेवडु वित्थारु ।
तिसहे निवारणु पलुवि नवि पर धुट्ठुअइ असारु ॥ ८१ ॥
जं दिट्ठउं सोमग्गहणु असइहिं हसिउ निसंकु ।
पिअ-माणुस-विच्छोह-गरु गिलि गिलि राहु मयंकु ॥ ८२ ॥

अम्मीए सत्थावथेहि सुधि चिन्तिज्जइ माणु ।
पिए दिट्ठे हल्लोहलेण को चेअइ अप्पाणु ॥ ८३ ॥

सवधु करेप्पिणु कधिदु मइं तसु पर सभलउं जम्मु ।
जासु न चाउ न चारहडि नय पम्हट्ठउ धम्मु ॥ ८४ ॥

जइ केवँइ पावीसुं पिउ अकिया कुड्ड करीसु ।
पाणीउ नवइ सरावि जिवँ सव्वङ्गें पइसीसु ॥ ८५ ॥

उअ कणिआरु पफुल्लिअउ कञ्चणकन्तिपकासु ।
गोरीवयणविणिज्जिअउ नं सेवइ वणावासु ॥ ८६ ॥

व्रासु महारिसि एउ भणइ जइ सुइसत्थु पमाणु ।
मायहं चलण नवन्ताहं दिवि दिवि गङ्गाण्हाणु ॥ ८७ ॥

केम समप्पउ दुट्ठु दिणु किध रयणी छुडु होइ ।
नव-बहु-दंसण लालसउ वहइ मणोरह सोइ ॥ ८८ ॥

ओ गोरीमुहनिज्जिअउ वद्दलि लुक्कु मियंकु ।
अन्नु वि जो परिहवियतणु सो किवँ भवइ निसंकु ॥ ८९ ॥

बिम्बाहरि तणु रयणवण किह ठिउ सिरि आणन्द ।
निरुवम रसु पिएं पिअवि जणि सेसहो दिण्णी मुद्द ॥ ९० ॥

भण सहि निहुअउं तेव मइ जइ पिउ दिट्ठु सदोसु ।
जेवँ न जाणइ मज्झु मणु पक्खावडिअं तासु ॥ ९१ ॥

मइ भणिअउ बलिराय तुहुं केहउ मग्गण एहु ।
जेहु तेहु नवि होइ वढ सइं नारायणु एहु ॥ ९२ ॥

जइ सो घडदि प्रयावदी केत्थुवि लेप्पिणु सिक्खु ।
जेत्थुवि तेत्थुवि एत्थु जगि भण तो तहि सारिक्खु ॥ ९३ ॥

जाम न निवडइ कुंभयडि सीहचवेडचडक्क ।
ताम समत्तहं मयगलहं पइ पइ वज्जइ ढक्क ॥ ९४ ॥

तिलहं तिलत्तणु ताउं पर जाउं न नेह गलन्ति ।
नेहि पणट्ठइ तेज्जि तिल तिल फिट्टवि खल होन्ति ॥ ६५ ॥
जामहिं विसमी कज्जगइ जीवहं मज्झे एइ ।
तामहिं अच्छउ इयरु जणु सुअणुवि अन्तरु देइ ॥ ६६ ॥

ते मुग्गडा हराविआ जे परिविट्ठा ताहँ ।
अवरोप्परु जोअन्ताहं सामिउ गञ्जिउ जाहँ ॥६७॥
बम्भ ते विरला केवि नर जे सव्वङ्ग छइल्ल ।
जो वङ्का ते वञ्चयर जे उज्जुअ ते बइल्ल ॥६३॥

अन्ने ते दीहर लोअण अन्नु तं मुअजुअलु ।
अन्नु सु घण थणहारु तं अन्नु जि मुहकमलु ॥६६॥
अन्नु जि केसकलावु सु अन्नु जि प्राउ विहि ।
जेण निअम्बिणि घडिअ स गुणलायण्णनिहि ॥१००॥

प्राइव मुणिहं वि भन्तडी ते मणिअडा गणन्ति ।
अखइ निरामइ परमपइ अज्जवि लउ न लहन्ति ॥१०१॥
अंसुजलें प्राइम्व गोरिअहे सहि उव्वत्ता नयणसर ।
तें सम्मुह संपेसिआ देन्ति तिरिच्छी घत्त पर ॥१०२॥

ऐसी पिउ रूसेसु हउँ रुट्ठी मइँ अणुणेइ ।
पग्गिम्व एइ मणोरहइं दुक्करु दइउ करेइ ॥१०३॥

विरहानलजालकरालिअउ पहिउ कोवि बुड्डिवि ठिअओ ।
अनु सिसिरकालि सीअलजलउ धूम कहन्तिहु उट्ठिअओ॥१०४॥

महु कन्तहो गुट्ठट्ठिअहो कउ झुम्पडा वलन्ति ।
अह रिउरुहिरें उल्हवइ अह अप्पणें न भन्ति ॥१०५॥

पिय संगमि कउ निद्दडी पिअहो परोक्खहो केम्व ।
मइं बिन्निवि विन्नासिआ निद्द न एम्व न तेम्व ॥१०६॥

कन्तु जु सीहहो उवमिअइ तं महु खंडिउ माणु ,
सीहु निरक्खय गय हणइ पिउ पयरक्खसमाणु ॥१०७॥
चंचलु जीविउ ध्रुवु मरणु पिअ रूसिज्जइ काइं ।
होसइं दिअहा रूसणा दिव्वइं वरिससयाइं ॥१०८॥
माणि पणट्ठइ जइ न तणु तो देसडा चइज्ज ।
मा दुज्जणकरपल्लवेहिं दंसिज्जन्तु भमिज्ज ॥१०९॥
लोणु विलिज्जइ पाणिएण अरि खलमेह म गज्जु ।
वालिउ गलइ सुझुम्पडा गोरी तिम्मइ अज्जु ॥११०॥
विहवि पणट्ठइ बंकुडउ रिद्धिहिं जणसामन्नु ।
किंपि मणाउं महु पिअहो ससि अणुहरइ न अन्नु ॥१११॥
किर खाइ न पिअइ न विद्दवइ धम्मि न वेच्चइ रूअडउ ।
इह किवणु न जाणइ जह जमहो खणेण पहुच्चइ दूअडउ ॥११२॥
जाइज्जइ तहिं देसडइ लब्भइ पियहो पमाणु ।
जइ आवइ तो आणिअइ अह वा तं जि निवाणु ॥११३॥
जउ पवसन्ते सहुँ न गयअ न मुअ विओएं तस्सु ।
लज्जिज्जइ संदेसडा देन्तेहिं सुहयजणस्सु ॥११४॥
एत्तहे मेह पिअन्ति जलु एत्तहे वडवानल आवट्टइ ।
पेक्खु गहीरिम सायरहो एकवि कणिअ नाहिं ओहट्टइ॥११५॥
जाउ म जन्तउ पल्लवह देक्खउं कइ पय देइ ।
हिअइ तिरिच्छी हउं जि पर पिउ डम्बरइं करेइ ॥११६॥
हरि नच्चाविउ पङ्गणइ विम्हइ पाडिउ लोउ ।
एम्वहिं राह पओहरहं जं भावइ तं होइ ॥११७॥
साव सलोणी गोरडी नवखी कवि विस-गण्ठि ।
भडु पच्चलिउ सो मरइ जासु न लग्गइ कण्ठि ॥११८॥

मइं वुत्तउं तुहुं धुरु धरहि कसरेंहि विगुत्ताइं ।
पइं विणु धवल न चडइ भरु एम्वइ वुन्नउ काइं ॥११६॥

एक्कु कइअ ह वि न आवही अन्नु वहिल्लउ जाहि ।
मइं मित्तडा प्रमाणिअउ पइं जेहउ खलु नाहिं ॥१२०॥

जिवँ सुपुरिस तिवँ घंघलइं जिवँ नइ तिवँ वलणाइं ।
जिवँ डोंगर तिवँ कोट्टरइं हिआ विसूरहि काइं ॥१२१॥
जे छड्डेविणु रयणनिहि अप्पउं तडि घल्लन्ति ।
तहं संखहँ विट्टालु परु फुक्किज्जन्त भमन्ति ॥१२२॥

दिवेहि विढत्तउं खाहि वढ संचि म एक्कुवि द्रम्मु ।
कावि द्रवक्कउ सो पडइ जेण समप्पइ जम्मु ॥१२३॥

एकमेक्कउं जइवि जोएदि
हरि सुट्ठु सव्वायरेण
तावि द्रेहि जहिं कहिंवि राही
को सक्कइ संवरेवि दड्ढनयणा नेहिं पलुट्टा ॥१२४॥

विहवे कस्सु थिरत्तणउं जोव्वणि कस्सु मरट्टु ।
सो लेखडउ पट्ठाविअइ जो लग्गइ निच्चट्टु ॥१२५॥
कहिं ससहरु कहिं मयरहरु कहिं बरिहिणु कहिं मेहु ।
दूर ठिआहंवि सज्जणहं होइ असड्ढलु नेहु ॥१२६॥

कुंजरु अन्नहं तरुअरहं कुड्डेण घल्लइ हत्थु ।
मणु पुणु एक्कहिं सल्लइहिं जइ पुच्छह परमत्थु ॥१२७॥
खेड्डयं कयमम्हेहिं निच्छयं किं पयंपह ।
अणुरत्ताउ भत्ताउ अम्हे मा चय सामिअ ॥१२८॥

सरिहिं (न) सरेहिं न सरवरेहिं न वि उज्जाणवणेहिं ।
देस रवण्णा होन्ति वढ निवसन्तेहिं सुअणेहिं ॥१२६॥

हिअडा पइं एहु बोल्लिअओ महु अग्गइ सयवार ।
फुट्टिसु पिए पवसन्ति हउं भंडय ढक्करिसार ॥१३०॥

एक कुडुल्ली पंचहिं रुद्धी
तहं पञ्चहं वि जुअंजुअ बुद्धी ।
बहिणुए तं घरु कहिं किव नन्दउ
जेत्थु कुडुम्बउं अप्पण-छन्दउ ॥१३१॥

जो पुणि मणि जि खसफसिहूअउ चिन्तइ देइ न दम्मु न रूअउ ।
रइवसभमिरु करग्गुल्लालिउ घरहिं जि कोन्तु गुणइ सो नालिउ ॥१३२॥

चलेहिं चलन्तेहिं लोअणेहिं ते तइं दिट्ठा बालि ।
तहिं मयरद्धय दडवडउ पडइ अपूरहिं कालि ॥१३३॥
गयउ सु केसरि पिअहु जलु निच्चिन्तइं हरिणाइं ।
जसु केरएं हुंकारडएं मुहहुं पडन्ति तृणाइं ॥१३४॥

सत्थावत्थहं आलवणु साहुवि लोउ करेइ ।
आदन्नहं मब्भीसडी जो सज्जणु सो देइ ॥१३५॥
जइ रच्चसि जाइट्ठिअए हिअडा मुद्धसहाव ।
लोहें फुट्टणएण जिवं घणा सहेसइ ताव ॥१३६॥

मइं जाणिउं बुड्डीसु हउं प्रेमद्रहि हुहुरुत्ति ।
नवरि अचिन्तिय संपडिय विप्पिय नाव झडत्ति ॥१३७॥
खज्जइ नउ कसरक्केहिं पिज्जइ नउ घुण्टेहिं ।
एवइ होइ सुहच्छडी पिए दिट्ठे नयणेहिं ॥१३८॥

अज्जवि नाहु महु ज्जि घर सिद्धत्था वन्देइ ।
ताउं जि विरहु गवक्खेहि मक्कडुघुग्घिउ देइ ॥१३९॥
सिरि जरखण्डी लोअडी गलि मनिअडा न वीस ।
तो वि गोट्ठडा कराविआ मुद्धए उट्ठवईस ॥१४०॥

अम्मडि पच्छायावडा पिउ कलहिअउ विआलि ।
घइं विवरीरी बुद्धडी होइ विणासहो कालि ॥१४१॥

ढोल्ला एह परिहासडी अइ भण कवणहिं देसि ।
हउं झिज्जउं तउ केहिं पिअ तुहुं पुणु अन्नह रेसि ॥१४२॥

सुमरिज्जइ तं वल्लहउं जं वीसरइ मणाउं ।
जहिं पुणु सुमरणु जाउं गउ तहो नेहहो कइं नाउं ॥१४३॥

जिब्भिन्दिउ नायगु वसि करहु जसु अधिन्नइं अन्नइं ।
मूलि विणट्ठइ तुंबिणिहे अवसें सुक्कइं पण्णइं ॥१४४॥

एक्कसि सीलकलंकिअहं देज्जहिं पच्छित्ताइं ।
जो पुणु खंडइ अणुदिअहु तसु पच्छित्तें काइं ॥१४५॥

विरहानलजालकरालिअउ पहिउ पन्थि जं दिट्ठउ ।
तं मेलवि सव्वहिं पंथिअहिं सो जि किअउ अग्गिट्ठउ ॥१४६॥

सामिपसाउ सलज्जु पिउ सीमासंधिहिं वासु ।
पेक्खिवि वाहुबलुल्लडा धण मेल्लइ नीसासु ॥१४७॥

पहिआ दिट्ठी गोरडी दिट्ठो मग्गु निअन्त ।
असूसासेहिं कञ्चुआ तिंतुव्वाण करन्त ॥१४८॥

पिउ आइउ सुअ वत्तडी—झुणि कन्नडइ पइट्ठ ।
तहो विरहहो नासन्तअहो धूलडिआवि न दिट्ठ ॥१४९॥

संदेसें काइं तुहारेण जं संगहो न मिलिज्जइ ।
सुइणन्तरि पिएं पाणिएण पिअ पिआस किं छिज्जइ ॥१५०॥

एत्तहे तेत्तहे वारि घरि लच्छि विसण्ठुल धाइ ।
पिअपब्भट्ठव गोरडी निच्चल कहिंवि न ठाइ ॥१५१॥

एउ गृण्हेप्पिणु ध्रुं मइं जइ प्रिउ उव्वारिज्जइ ।
महु करिएव्वउं किंपि णवि मरिएव्वउं पर देज्जइ ॥१५२॥

देसुच्चाडणु सिहिकढणु घणकुट्टणु जं लोहृ ।
मंजिट्ठए अइरत्तिए सव्व सहेव्वउ होइ ॥१५३॥
हिअडा जइ वेरिअ घणा तो किं अब्भि चडाहुं ।
अम्हाहिं वे हत्थडा जइ पुणु मारि मराहुं ॥१५४॥
रक्खइ सा विसहारिणी बे कर चुम्बिवि जीउ ।
पडिबिंबिअमुंजालु जलु जेहिं अडोहिउ पीउ ॥१५५॥
बाह विछोडवि जाहि तुहुँ हउँ तेवँइ को दोसु ।
हिअयट्ठिउ जइ नीसरहि जाताउँ मुंज सरोसु ॥१५६॥
जेप्पि असेसु कसायबलु देप्पिणु अभउ जयस्सु ।
लेवि महव्वय सिवु लहहिं झाएविणु तत्तस्सु ॥१५७॥
देवं दुक्करु निअयधणु करण न तउ पडिहाइ ।
एम्वइ सुहु भुञ्जणहं मणु पर भुञ्जणहिं न जाइ ॥१५८॥
जेप्पि चएप्पिणु सयल धर लेविणु तवु पालेवि ।
विणु सन्तें तित्थसरेण को सक्कइ भुवणेवि ॥१५९॥
गंप्पिणु वाणारसिहिं नर अह उज्जेणिहिं गंप्पि ।
मुआ परावहिं परमपउ दिव्वन्तरहिं म जम्पि ॥१६०॥
गंग गमेप्पिणु जो मुअइ जो सिवतित्थ गमेप्पि ।
कीलदि तिदसावास गउ सो जमलोउ जिणेप्पि ॥१६१॥
रवि अत्थमणि समाउलेण कण्ठि विइण्णु न छिण्णु ।
चक्कें खण्ड मुणालियहे नउ जीवग्गलु दिण्णु ॥१६२॥
वलयावलि-निवडण-भएण धण उद्धब्भुअ जाइ ।
वल्लहविरह-महादहहो थाह गवेसइ नाइ ॥१६३॥
पेक्खेविणु मुहु जिणवरहो दीहरनयण सलोणु ।
नावइ गुरुमच्छरभरिउ जलणि पवीसइ लोणु ॥१६४॥

चम्पयकुसुमहो मज्झि सहि भसलु पइट्ठउ ।
सोहइ इन्दनीलु जणि कणइ वइट्ठउ ॥१६५॥
अब्भा लग्गा डुङ्गरहिं पहिउ रडन्तउ जाइ ।
जो एहा गिरिगिलणमणु सो किं धणहे धणाइ ॥१६६॥
पाइ विलग्गी अंत्रडी सिरु ल्हसिउ खन्धस्सु ।
तोवि कटारइ हत्थडउ बलि किज्जउँ कंतस्सु ॥१६७॥
सिरि चडिआ खन्ति फ्फलइं पुणु डालइं मोडन्ति ।
तो वि महद्दुम सउणाहं अवराहिउ न करन्ति ॥१६८॥

परिशिष्ट

महाकवि कालिदास

गंध से उन्मत्त भ्रमरों के गुंजन, तथा बजती हुई, कोयल रूपी तुरही के साथ, विविध प्रकार से, वह कल्पवृक्ष अत्यंत सुंदर नृत्य कर रहा है; उसकी फैली हुई डालियाँ और पल्लव पवन से हिल डुल रहे हैं ॥१॥

हे मयूर ? तुमसे मेरी प्रार्थना है कि यदि इस अरण्य में तुमने भ्रमण करती हुई, मेरी प्रियतमा को देखा हो तो मुझसे कहो। सुनो, तुम उसे उसके चंद्रमुख और हंसगति से पहचान सकते हो इस लिए मैंने तुमसे पूछा ॥२॥

अरी दूसरों से पालीजानेवाली कोयल ? यदि तूंने मधुर-भाषिणी मेरी प्रियतमा को, नंदनवन में, स्वच्छंद विहार करते हुए देखा हो, तो मुझे बता ॥३ अ॥

रे रे हंस, तूं मुझसे क्या छिपा रहा है। तेरी चाल से ही मैं जान चुका हूं कि तूंने मेरी जघनभरालस प्रियतमा को अवश्य देखा है। नहीं तो तुझ जैसे गति के लालची को इतनी सुंदर चाल की शिक्षा किसने दी ॥३ ब॥

गोरोचनकुंकुम के समान वर्णवाले हे चकवे, तुम बताओ ? "क्या तुमने वसंत के दिनों में खेलती हुई हमारी प्रियतमा को देखा है ?" ॥४॥

अपने ललित प्रहार से वृक्षों को उखाड़ डालने वाले हे गजवर ? मैं तुमसे पूंछता हूं ? क्या तुमने चंद्रकांति को लज्जित करनेवाली मेरी प्रियतमा को सामने जाते हुए देखा है। ।।५।।

मोर, कोयल, हंस, पक्षी, भ्रमर, हाथी, पर्वत, नदी, और हिरन, इनमें से, किससे, तुम्हारे कारण वन में भटकते हुए, मैंने रोकर नहीं पूंछा ।।६।।

सरहपाद;

यदि नंगे रहने से मुक्ति होती, तो कुत्तों और सियारों को भी मिल जाती। यदि रोम उखाड़ने से मुक्ति होती तो युवती के नितम्बों को भी मिल जाती। यदि पंख लेने से मुक्ति होती तो मोरों और चमरियों को मिल जाती। यदि जूठा भोजन करने से ज्ञान होता तो हाथियों और घोड़ों को मिल जाता। सरह, कहते हैं कि क्षपणों को मोक्ष मिलना तो मुझे किसी प्रकार समझ नहीं पड़ता। यह शरीर तत्त्वरहित है, बस मिथ्या ही वे इसे विविध प्रकार की पीड़ा दिया करते हैं।

आचार्य देवसेन

दुर्जन संसार में सुखी हो। जिसने सुजन को उसी प्रकार प्रकाशित किया जिस प्रकार विष अमृत को, अंधकार दिन को, और कांच मरकतमणि को प्रकाशित करता है ।।१।।

जिस साधु में संयम शील शौच और तप है, वही गुरु है क्योंकि दाह छेद और कश-धात के योग्य ही कंचन, उत्तम होता है ।।२।।

यदि देखना भी छोड़ दिया है, तो हे जीव ? तभी सचमुच जुए को छूटा समझो, आग को पानी से ठंडा कर देने पर अवश्य धुंआ नहीं उठता। ।।३।।

दया ही धर्मवृक्ष का मूल है जिसने इसे उत्पाटित कर डाला उसने दल फल और कुसुम की कौन बात, मांस ही खा लिया ॥४॥

धनिकों का धन वेश्या में लगता है, और बंधु मित्र, सब छूट जाते हैं, वेश्या के घर में प्रवेश करनेवाला नर सब गुणों से मुक्त हो जाता है ॥५॥

परस्त्री बहुत बड़ा बंधन ही नहीं, अपितु वह नरकनसैनी भी है, विषकंदली मूर्छित ही नहीं करती, किन्तु प्राणों की भी हानि कर डालती है ॥६॥

यदि अभिलाषा का निवारण हो गया तो परदारा का त्याग हुआ। नायक को जीत लेने पर, समस्त स्कंधावार (सेना) विजित हो जाती है ॥७॥

व्यसन तो तब छूटेंगे, हे जीव ? जब आसक्त मनुष्यों का परिहार किया जाय। क्योंकि देखो, सूखे वृक्षों के सम्पर्क से हरे वृक्ष भी ढा जाते हैं ॥८॥

मान के कारण, पराई स्त्री सीता की इच्छा रखने से, रावण का नाश हुआ। दृष्टि विष दृष्टिमात्र से मार डालता है, उससे डसे जाने पर तो कौन जी सकता है ॥९॥

पशु धन धान्य खेती इनमें परिमाण से प्रवृत्ति कर बंधनों में बहुल बल (आँटा) होने से उनका तोड़ना कठिन हो जाता है ॥ १० ॥

हे जीव भोगों का भी प्रमाण रख। इन्द्रियों को बहुत अभि-मानी मत बना। काले सांपों का दुग्ध से पोषण करना अच्छा नहीं होता ॥ ११ ॥

मद्य मांस और मधु का जो त्याग करे, आजकल वही श्रावक है, क्या बड़े वृक्षों से रहित एरंडवन में छांह नहीं होती ॥ १२ ॥

जो दिया जाता है वही प्राप्त होता है यह कहना ठीक नहीं है, गाय को घास-भूसा खिलाया जाता है तो क्या वह दूध नहीं देती ॥ १३ ॥

बहुत कहने से क्या, जो अपने प्रतिकूल हो उसे कभी दूसरों के प्रति भी मत करो, यही धर्म का मूल है ॥ १४ ॥

सौ शास्त्रों को जान लेने से भी विपरीत ज्ञानवाले के मन पर धर्म नहीं चढ़ता। यदि सौ सूर्य्य भी ऊग आवें तो भी घुग्घु अंधा ही रहेगा ॥ १५ ॥

निर्धन मनुष्य के कष्ट संयम में उन्नति देते हैं। उत्तमपद में जोड़े हुए दोष भी गुण हो जाते हैं ॥ १६ ॥

पांचों इन्द्रियों के विषय में ढील मत दो। दो का निवारण करो। एक जीभ को रोक और दूसरी पराई नारी को ॥ १७ ॥

गुरुवचन रूपी अंकुश से खींच, जिससे मट्ठापन को छोड़ कर, मनरूपीहाथी संयमरूपी हरेभरे वृक्ष की ओर मुख मोड़े ॥ १८ ॥

शत्रु भी मधुरता से शांत हो जाता है और सभी जीव वश में हो जाते हैं। त्याग कवित्व और पौरुष से पुरुष की कीर्ति होती है ॥ १९ ॥

अन्याय से लक्ष्मी आ जाती है, पर ठहरती नहीं। उन्मार्ग पर चलने वालों का पांव कांटों से भग्न होता है। ॥ २० ॥

अन्याय से बलवानों का भी जब क्षय हो जाता है तो क्या दुर्बल का न होगा, जहाँ हवा से गज भी उड़ जाते हैं वहाँ क्या कुत्ती ठहर सकती है ॥ २१ ॥

अन्याय से दरिद्रों की आजीविका भी टूट जाती है, जीर्ण वस्त्र पांव पसारने से फटेगा ही, इसमें संदेह नहीं ॥ २२ ॥

दुर्लभ मनुष्यशरीर पाकर भी, जिसने उसे भोगों में समाप्त कर दिया उसने मानों लोहे के लिए दुत्तरतारिणी नाव तोड़ डाली ॥ २३ ॥

आचार्य पुष्पदंत

आचार्य पुष्पदंत अपभ्रंशभाषा के सर्वश्रेष्ठ और स्वतंत्र चेता कवि थे। वाणी उनकी जीभ पर नर्तित रहती थी, उनके अनेक उपनामों में, काव्य-पिशाच और अभिमान-मेरु भी उनके उपनाम थे, इनसे उनकी असाधारण काव्यप्रतिभा और अक्खड़स्वभाव का पता चलता है। महापुराण की उत्थानिका में वह लिखते हैं कि गिरिकंदराओं में घास खाकर रहना अच्छा, पर दुर्जनों की टेढ़ीभौंहें देखना ठीक नहीं।[1] इन पंक्तियों से ऐसा जान पड़ता है कि कवि को अपने जीवन में अपमान के दिन देखने पड़े थे। उत्तरपुराण के अंत में अपना परिचय देते हुए कवि ने अपने लिए काश्यप गोत्री और सरस्वतीविलासी कहा है।[2] अंतिमदिनों में आचार्य पुष्पदंत मान्यखेट में महामंत्री 'भरत' के निकट अत्यधिक सम्मानित होकर रहे। पर कंचन और कीर्ति से वह सदैव निर्लिप्त

---

(१) तं सुणिवि भणइ अहिमाण मेरु
वर खज्जइ गिरिकंदरि कसेरू
णउ दुज्जन भउँहावंकियाइं
दीसंतु कलुसभावं कियाइं

(२) केसवपुत्तें कासवगोत्तें
विमल सरासइ जणिय विलासें

थे, नीचे की पंक्तियों में उनकी अक्खड़प्रकृति और निसंग चित्तवृत्ति साफ झलक उठती है "मैं धनको तिनके के समान गिनता हूँ, उसे मैं नहीं लेता। मैं तो अकारण प्रेम का भूखा हूँ, और इसी से तुम्हारे महल में हूँ।"[१] मेरी कविता तो जिन चरणों की भक्ति से मुकुलित है, जीविकानिर्वाह के ख्याल से नहीं। विविध वाङ्मय के वह महान् पंडित थे, महाकवि कालिदास ने काली की उपासना करके काव्यप्रतिभा प्राप्त की थी, परंतु आचार्य पुष्पदंत ने अपने पांडित्य के गर्व में सरस्वती से यह कहने का साहस कर डाला कि हे देवी? अभिमानरत्ननिलय पुष्पदंत के बिना तुम कहाँ जाओगी, तुम्हारी क्या दशा होगी।[२] यह साहस साधारण प्रतिभा का काम नहीं। पर साथ ही, दूसरी पंक्तियों में उनकी विनम्रता देखिए, 'वह कहते हैं—न मुझमें बुद्धि है न श्रुतसंग है। और न किसी का बल है"।[३] कवि का शरीर दुबलापतला था, पर कुरूप होकर भी वह हंसमुख रहते थे।

अपभ्रंश में उनकी तीन रचनाएं बहुत प्रसिद्ध हैं,—'महापुराण' में १०२ संधियाँ (सर्ग) हैं। यह महाकाव्य है जो दो खंडों में विभाजित है, आदि पुराण और उत्तरा पुराण। इसके निर्माण में पूरे छः

---

(१) धणु तणुसमु मज्झु ण तं गहणु
णेहु निकारिमु इच्छमि
देवीसुअ सुदणिहि देण हउं णिलए तुम्हारए अच्छमि
मज्झु कइत्तणु जिणपयभत्तिहे पसरइ णउ णियजीवियवित्तिहे

(२) भद्रे देवि सरस्वति प्रियतमे काले कलौ साम्प्रतं
कं यस्यम्यभिमानरत्ननिलयं श्रीपुष्पदंतं विना।

(३) णहु महु बुद्धिपरिग्गहु णहु सुयसंगहु णउ कासु वि केरउ बलु।

वर्ष लगे, यह अपभ्रंश ही नहीं, अपितु भारतीयसाहित्य का बहुत भारी काव्यग्रंथ है। णायकुमारचरिउ और जसहरचरिउ दोनों खंडकाव्य हैं। इनमें नागकुमार और यशोधर, दो व्यक्तियों का जीवन-चरित्र अंकित है। इसके अतिरिक्त, कवि के एक कोष ग्रंथ का भी उल्लेख मिलता है, सचमुच आचार्य पुष्पदंत अपभ्रंशभाषा के तुलसी और कालिदास थे। संस्कृत में कविता करने की क्षमता होते हुए भी उन्होंने लोकभाषा में कविता करना ठीक समझा।

सरस्वती वंदना

जो द्विविध (शब्द और अर्थ) अलंकारों से स्फुरायमान् हैं, सुंदरशब्दविन्यास से जिनकी पद रचना अत्यन्त कोमल है। महाकाव्य में भी जो क्रीड़ापूर्वक संचरण करती हैं, जो समस्त विशिष्ट ज्ञान को धारण करती हैं, जो सभी देशों की भाषाओं को बोलती हैं तथा उनके विशेषलक्षणों को दिखातीं हैं, जो अतिप्रस्तारवाले छंदोमार्ग से जातीं हैं, और प्रसाद आदि दस गुणों से जीवन ग्रहण करती हैं। जो नवरसों से परिपुष्ट हैं और समास तथा विग्रह से शोभित हैं। जो चौदहपूर्व और बारह अंग तथा जिनमुख से निकलीहुई सप्तभंगीमय हैं। व्याकरण की वृत्ति से जिनका नामाधिकार प्रकट होता है। मन को उल्लसित करने वालीं, ऐसी सरस्वतीदेवी मुझ पर प्रसन्न हों। वहाँ मान्यखेट नगर है, जो महलों की ऊँची शिखरों से बादलों को रोक लेता है, और जो कृष्णराय के करतल में स्थित तलवाररूपी वाहिनी से अत्यंत दुर्गम है। नोट—[यह अवतरण श्लेष काव्य है, ये ही विशेषण स्त्री के पक्ष में भी लगते हैं।]

नर और नारी

मेघ इन्द्रधनुष की कांति से सोहते हैं और श्रेष्ठ पुरुष सच्ची बात से। कविजन कथा सुबद्ध करने से सोहते हैं, और साधु, विद्या की सिद्धि होने से। श्रेष्ठ मुनि मन की शुद्धि से शोभित होते हैं और राजा निर्मलबुद्धि से। मंत्री मंत्रविधि को ठीक देखने से शोभित होता है और अनुचर तलवाररूपी यष्टि धारण करने से। वर्षारितु धान्य की समृद्धि से सोहती है और वैभव, परिजनों की समृद्धि से। मनुष्य की शोभा गुणरूपी सम्पत्ति से है और कार्यारंभ की शोभा, उसकी समाप्ति से है। वृक्षों की शोभा फूलों से है और सुभट की शोभा पौरुषप्रदर्शन से। माधव की शोभा उरुतल की लक्ष्मी से है और वर की शोभा विपुल, पति-योग्य वैभव से। स्त्री, सरासन के समान मनुष्य के शरीर को भा से भास्वर क्यों नहीं करती? जो स्त्री गुणवती है, पुरुष के हाथ में है, और शुद्ध वंश की है तथा और भी जिसमें अनेक गुण होते है, धनुष भी, (गुण) प्रत्यञ्चावाला, मनुष्य के हाथ में सोहता है, और वह, शुद्ध बांस का भी होता है।

नागकुमार और दुर्वचन का युद्ध

खड्ग से छेदते हैं, शिलाओं से भेदते हैं, बाणों से वेधते हैं, ढालों से रोकते हैं, पाशों से बांधते हैं, दंडों से चूर चूर करते हैं, सूलों से वेधते है, दुर्मट से दबोचते हैं, गिराते हैं, मोड़ते हैं लोटते हैं, घुटते हैं। रोष से अभिभूत होकर सेनाएं जूझती हैं, इसी बीच, सज्जन में प्रसन्नता व्यक्त करने वाले किसी पुरुष ने उस साहसी बालक (नागकुमार) से कहा कि स्त्री के निमित्त मारने की इच्छा रखनेवाले, दुर्वचन नामक राजा ने, श्रेष्ठ गज पर

आरुढ़ आपको रोक लिया है। यह सुनकर नागकुमार चौंक उठा। वह रोष से शीघ्रता करने लगा, और नीलगिरि हाथी पर चढ़कर रुचिकर, कवच से युक्त और युद्ध के लिए सन्नद्ध, उससे भिड़ गया। प्रभु को देखकर भय से काँपता हुआ वह भट (दुर्वचन) हाथी की पीठ से उतर कर नागकुमार के पैरों पर गिर पड़ा और बोला कि मैं दैव के द्वारा ठगा गया हूँ।

(णायकुमार चरिउ)

यशोधरराजा

जो त्याग में कृष्ण, वैभव में इंद्र, रूप में कामदेव और कांति में चंद्रमा है। यम की तरह जो प्रचंड घात करता है। शत्रुरूपी वृक्षों के निर्दलन में, जो बल से, वायु के समान है। ऐरावत की सूँड़ की तरह, जिसके बाहु स्थूल और प्रचंड हैं। प्रत्यन्तराजों में जो मणिस्वरूप है। जिसकी चोटी भ्रमरसमूह की तरह नीली सोहती है। जो समर्थ भटों में श्रेष्ठ व्यक्ति है। जहाँ गोपुर में किवाड़ लगे हैं और जहाँ अनेक वस्तुएं हैं, शक्तित्रय की सम्हाल में जो अत्यन्त दक्ष है, और लाखों लक्षणों से अंकित है, जो प्रसन्नमूर्ति है, और जिसकी वाणी मेघ की तरह गम्भीर है। इस प्रकार मंत्री और सामंतों की सहायता से वह राज्य और प्रजा का पालन करता था। इसी काल में धनधान्य से पूरित राजपुर नगर में, एक कापालिक कुलाचार्य आए।

मानव शरीर

मनुष्यशरीर दुखों की पोटली है। बार बार धोने पर भी वह खराब हो जाता है। बार बार सुवासित करने पर भी उसका मल सुरभित नहीं होता, बार बार पोषण करने पर भी उसमें बल नहीं

आता। बार-बार तुष्ट करने पर भी अपना नहीं होता। बार-बार ठगे जानेपर भी घर गिरस्ती में लगता है। बार-बार भूषित करने पर भी सुहावना नहीं लगता। बार-बार मंडित करने पर भी भयंकर रहता है। बार-बार रोके जाने पर भी घरबार में रमता है, बोल बोलकर दुखी होता है। बार-बार चर्चित करने पर भी ग्लानिमय दिखता है। बार-बार विचार करके भी मरण से त्रसित होता है, पुनः पुनः देखकर भी सब कुछ खा लेता है। सिखाने-सिखाने पर भी गुणों में नहीं रमता, बार-बार दुखी होकर भी शमता भाव नहीं धारण करता, पुनः पुनः वारित करने पर भी पाप करता है, बार बार प्रेरित करने पर भी धर्माचरण नहीं करता, पुनः पुनः मर्दन करने पर भी इस शरीर का स्पर्श, रोगी की तरह, रूखा रूखा रहता है। बार बार मलने पर भी वायु में घुलता रहता है, सिंचित करने पर भी पित्त से जला करता है, शोषित रखने पर भी कफ बढ़ता जाता है। संयत आहार करने पर भी कोढ़ी हो जाता है, चाम में आवद्ध होकर काल से लड़ा करता है, रक्षित रखनेपर भी यम के मुंह में पड़ जाता है, इस प्रकार क्रोध करके मनुष्य, मरकर नरक में पड़ता है, फिर भी हम जैसे मूर्ख तरुणी के वशीभूत होकर, परस्त्रियों में रमण करते हैं।

'जसहरचरिउ'

कवि की प्रस्तावना

सफेद दंतपंक्ति से अपना मुख धवल करके उत्तम वाणी के विलास में (कवि) कहता है—लक्ष्मी चाहनेवाले पुरुषसिंह, हे देवीनंदन ? क्या काव्य किया जाय ? घनदिवस, किरणों से वर्जित होता है, और दुर्जन, वाणी से। इन्द्रधनुष डोरीरहित होना

है, और दुर्जन गुण रहित। जो (दुर्जन) जरहर की तरह मलिनहृदय होते हैं, सांपों की तरह परछिद्र खोजनेवाले, जड़वादियों की तरह रस-विहीन, राक्षसों की तरह दोषों के आकर, दूसरों की पीठ पर पलनेवाले, दुष्टहृदय दुर्जन, वरकवि की भी निंदा करते हैं। जो आबाल वृद्ध को संतोष देने वाला है, लक्ष्मण सहित राम का जिसमें वर्णन है, प्रवरसेन का ऐसा सेतुबंध काव्य भी दुर्जनों द्वारा उपसहित होता है। तो फिर, न तो मेरे पास बुद्धि का परिग्रह है. न श्रुतसंग है, और न किसी का बल है, कहो कैसे कविता की जाय? सौ सौ चुगलखोरों से व्याप्त, इस जगत में मुझे कीर्ति प्राप्त नहीं होगी।

उद्यान का वर्णन

जो उद्यान नव अंकुरित कोंपलों से सघन और कुसुमित फल फूलों से कलित है, जहाँ कृष्णवर्ण की कोयल घूम रही है, मानो वनलक्ष्मी का कज्जल-समूह हो। जहाँ उड़ती हुई, भ्रमरमाला, उत्तम इन्द्रनील मणियों की मेखला की तरह सोह रही है। सरोवरों में अवतरित हंसों की पांत सत्पुरुष की गतिशील और शुभ्र कीर्ति की तरह जान पड़ती है। जहां पवन से प्रेरित पानी ऐसा जान पड़ता है, मानों रवि के शोषण के भय से कांप रहा हो। जहां लक्ष्मी और कमल का तो आपस में स्नेह है, परन्तु चंद्रमा से बैर है, यद्यपि दोनों समुद्र से निकले हैं, पर जड़ (जल) से उत्पन्न होने के कारण वे यह नहीं जानते। जहां ऊख के वन श्रेष्ठ कवियों के विशाल काव्यों की तरह रसगर्भित हैं। जहां जूझते हुए महिषों और बैलों के उत्सव हो रहे हैं। उनके मंथन का शब्द हो रहा है। जहां रम्हाते हुए, और चंचल उठी हुई पूंछवाले बच्छों से आकुलित, और जिनमें गोपाल खेल रहे हैं, ऐसे गोकुल

हैं। जहाँ चार अंगुल के हरे तृण हैं, और पुष्ठकनवाले तथा बालों से युक्त धान्य की जहां खेती है। जहां पर चूने से पुते प्रासाद हैं, और नेत्रों को आनंद देनेवाले समृद्ध नगर और राजगृह हैं, जो, मानों कुलधररूपी स्तनोंवाली धरतीरूपी स्त्री के आभूषणों की तरह, व्याप्त हैं। जहां संकेत से ही बिरही जन आ जाते हैं, और जहां अशोक वृक्षों के साथ चम्पक वृक्ष भी प्रवर्धित है, जहां लोगों के द्वारा नाना प्रकार के फल दिए जाते हैं, मानो वे धर्मोज्वल कुल हों। जो मधु के गंडूषों से सिंचित, भूले हुए आभरणों से अंचित, सीमंतिनियों के पादपद्मों से ताड़ित और विकसित वृक्षों से वृद्धि को प्राप्त है। जहां प्रियसम्मत सुखद, पनसवृक्ष के आसन हैं, जहां बाण और असन वृक्ष (बीजक) दिखाई देते हैं। जहां स्खलितसूर्य की प्रभा में लोग विचरण करते हैं, मानों प्रभा में विचरते हुए उद्यान ही हों। जहां उत्कलिका-वाले नवीन ताल वृक्ष हैं जो ऐसे मालूम होते है मानों सज्जनों के स्वच्छमन हों। जहां कंटककराल को मनुष्यों ने लुंचित कर दिया है, कमल का मृणाल जहाँ पानी में छिपा है, पर उसका विकसित कोष बाहर है, कहो कौन अपने गुणों से दोषों को नहीं ढकता। जहां भ्रमर उसीपर बैठा हुआ, श्री के नेत्रांजन की भांति सोहता है। पवन से प्रेरित, मिली हुई, कुसुम की रेणु सुवर्ण की तरह भासित होती है।

संसार की नश्वरता

नाना शरीरों का संहार करनेवाले इस दारुण संसार में दो दिन रहकर कौन नरवर चलते नहीं बने। परमेश्वर ही समता प्रकाशित करता है, धन, इन्द्रधनुषी आभा की तरह क्षणभर में नष्ट हो जाता है; घोड़े हाथी रथ और योद्धा तथा धवल-

छत्र वैसे ही चले जाते हैं जैसे, सूर्योदय होने पर, अंधकार। कमलालय में निवास करनेवाली विमल लक्ष्मी, नवीन मेघों की तरह चञ्चल और विद्वानों का उपहास करनेवाली है। शरीर का लावण्य और वर्ण, क्षणभर में क्षीण हो जानेवाला है, चाहे कालामृत की बूँदे भी कोई पिए। करतल में स्थित जल की तरह, यौवन विलीन हो जाता है, और मनुष्य, पके फल की तरह झड़ जाता है। स्त्रियों के द्वारा जिसका लोन उतारा जाता है उसका शरीर भी तृणों पर उतार दिया जाता है। जो नरपति के द्वारा आदृत होता है, मरने पर घर की स्त्रियाँ भी उसे नहीं ले जातीं।

जो परबल को जीतकर धरती का उपभोग करता है, वह भी बाद में मारा जाता है। यह अद्भुत बात जानकर, तप का अवलम्बन लेकर, निर्जन वन में निवास करना चाहिए।

दूत का निवेदन

तब दूत ने कहा, हे कुमार तुम यह क्या अप्रिय कहते हो। भरत द्वारा प्रेषित पुंखवाले बाण दुर्निवार होंगे।

क्या पत्थर से मेरु दला जा सकता है, क्या गधा हाथी को पछाड़ सकता है। खद्योत रवि को निस्तेज कर सकता है, क्या घूँट घूँट से समुद्र सोखा जा सकता है। गोपी से क्या वहू की उपमा दी जा सकती है, क्या अज्ञान से जिन को जाना जा सकता है, क्या कौआ गरुड़ को रोक सकता है, क्या नवकमल वज्र को वेध सकता है, क्या हंस ससंकु को सफेद कर सकता है, क्या मनुष्य काल को खा सकता है। डेंडुह, क्या साँप को डस सकता है। क्या कर्म सिद्ध का वश में कर सकते हैं क्या निश्वास से लोक निक्षिप्त किया जा सकता है, इसी प्रकार, क्या तुम्हारे द्वारा नराधिप भरत जीते जा सकते हैं।

यदि कहना पर्याप्त हो, तो राजा तुम्हारे ऊपर चढ़ाई करेगा। और प्रातः रणक्षेत्र में करवाल सूल और सब्बलों से तुम्हारा पीछा करेगा।

भरत और बाहुबलि का युद्ध

शीघ्र गुरु रणभेरी बजने लगी, मानो त्रिभुवन को मारकर लील जायगी। शीघ्र ही स्वाभिमानी बाहुबलि निकल पड़े, शीघ्र ही, उधर से चक्रवर्ती (भरत) भी आ गये। शीघ्र ही काल ने दीर्घ जीभ निकाली मानों मनुष्य का मांस खाने की इच्छा से उसने उसे फैलाया हो। नारी नर और बालकों का जीवन निरीह हो उठा। पहाड़ डोलने लगे और वन में शेर दहाड़ने लगे। शीघ्र, योद्धाओं के भार से धरती डगमगाने लगी। शीघ्र ही प्रहारों के कारण सूर्य हस पड़ा चद्रन्बल की सेनाएं देखने लगीं। शीघ्र दोनों ओर की सेनाएं दौड़ने लगीं। शीघ्र ही, मत्सरचारी बढ़ने लगे, और शीघ्र ही कोस कोस तक खड्ग निकाले जाने लगे। शीघ्र ही हाथ में चक्र घूमने लगा। शीघ्र ही अनुचरों द्वारा सेलें घुमाई जाने लगीं। शीघ्र ही सामने भाले रखे जाने लगे। दिशाओं के मुख धूमिल हो उठे। कोई, शीघ्र मुट्ठी में लघुदंड ले रहा है। और कोई पंखों से उज्वल बाण प्रत्यंचा पर चढ़ा रहा है। कायर शीघ्र थरथराते प्राण लेकर भागे। शीघ्र रथ विमान की तरह चलाए जाने लगे। शीघ्र ही महावत अपने पैर से हाथी को प्रेरित करने लगा, और शीघ्र घुड़सवार घोड़े को चलाने लगा। इस प्रकार धरती के लिए, एक दूसरे की सेना परस्पर प्रहार करने लगी, इसी बीच में, हाथ उठाकर कुछ बोलते हुए महामंत्री ने प्रवेश किया।

पश्चाताप (बाहुबलिद्वारा)

यह शरीर हिमाहत कमलसर की तरह है। अथवा दव-दग्ध छाया-विहीन पेड़ की तरह। एक भी दिन, जो प्रभुमुख को म्लान देखता है तो कहता है कि मैं ही एक निकृष्ट हूं। चक्रवर्ती मेरे गोत्र का स्वामी है जिसने अनेक भाइयों का तिरस्कार किया है। हा! क्या किया जाय, यह मेरा ही भुजबल है, जो सुधियों के लिए दुर्नयकारक हुआ। यह धरती, पहले किसके द्वारा नहीं भोगी गई। राज पड़ा रह जाता है और इसी राज के लिए प्रियजनों का विघात किया जाता है, बंधुओं को विष दिया जाता है, जिस प्रकार भौंरा गंध के लोभ में पड़कर मारा जाता है, उसीप्रकार राज के फेर में पड़कर मनुष्य। योद्धा सामंत मंत्री और भाई, विचार करने पर, ये सब पराए हैं, तंडुल और दूध के लिए, हे राजन्! अज्ञान से मनुष्य, नरक में क्यों पड़ते हैं, राज नष्ट हो जाता है, और दुख भारी हो जाता है। यदि उसमें सुख होता तो उससे मुक्त क्यों होते? सुखनिधि भोग-भूमि सम्पत्ति कल्पवृक्ष और कुल कहां गए?

पाप का लांछन दुर्लंघनीय है, उसका अंत दुःसह और खोटा होता है कहो, यम के दाढ़रूपी पंजर में पड़कर कौन व्यक्ति जीवित उबर सका है। स्थिरकाम से क्या? पापीजन के शास्त्र सुनने से क्या? निर्लज्ज कुलपुत्र से क्या, और तपरहित सिद्धान्त से क्या? जिसमें समताभाव नहीं ऐसे मनुष्य से क्या चाहे वह विद्याधर और किंनर भी हो? धरणीतल का अन्तराल पूरने से क्या और लुब्धकों का धन लेने से क्या? रात वही है जो चंद्र से स्फुरायमान हो, और स्त्री वही है जो पति का हृदय रंजित करे, विद्या वही है जो यथेच्छ रूप से ले जाय, राज

वही है जहां बुधजन को आश्रय मिले, पंडित वे हैं जो पंडितों से मत्सरभाव नहीं रखते, मित्र वही हैं जो सदा साथ देते हैं। धन वही है जो दे देकर भोगा गया है, श्री वही है जो गुणनय-शालिनी हो, गुण वे हैं, जिनके जाने पर गुणियों का हृदय विदीर्ण हो जाय, और गुणी, मैं उसको मानता हूँ, और बार-बार उसका वर्णन करता हूँ, कि जो दीन का उद्धार करे।

श्रोत्रिय कौन ?

वाणिज्य में जो रत है उसे वैश्य समझो और जो खेती करते हैं उसे कृषक कहा जाता है। श्रोत्रिय वह है जो जिनवर को पूजता है, श्रोत्रिय वह है जो सम्यक तत्त्व का कथन करता है। श्रोत्रिय वह है जो दुष्ट वचन नहीं बोलता। श्रोत्रिय वह है जो पशु को नहीं मारता। श्रोत्रिय वह है जो हृदय से स्वच्छ है, श्रोत्रिय वह है जिसकी परमार्थ में रुचि है, श्रोत्रिय वह है जो मांस भक्षण नहीं करता। श्रोत्रिय वह है जो सुजन से वकवाद नहीं करता, श्रोत्रिय वह है जो मनुष्यों को रास्ते से लगाता है, श्रोत्रिय वह है जो सुतप का आचरण करता है, श्रोत्रिय वह है जो संतों को नमन करता है, श्रोत्रिय वह है जो झूठ नहीं बोलता, श्रोत्रिय वह है जो मद्य नहीं पीता, श्रोत्रिय वह है जो कुगति का वारण करता है,

जो तिल कपासादि द्रव्य विशेष का होम करके देवग्रह को प्रसन्न करता है, जो पशुओं और जीवों को नहीं मारता, मारने वालों को रोकता है और पर को अपने समान समझता है, वह श्रोत्रिय है ?

नीति कथन

बिना पानी की तलवार और मेघ से क्या ? बिना फल के

क्षीर से क्या ? द्रवरहित मेघ और काम से क्या ? तप रहित मुनि और कुल से क्या ? नीरस काव्य और नट से क्या ? पराधीन राज्य और भोग से क्या ? व्ययरहित द्रव्य से क्या, और व्रतरहित भव्य से क्या ? दया रहित धर्म और राजा से क्या ? बिना बाणों के तूणीर से क्या और बिना धान्य के कनिश से क्या ? बिना गुणों के चंद्रमा और पुरुष से क्या ? मैं निर्गुण और बीच का पुत्र हूँ, जिसने कपट से आप को चोट पहुंचाई, खिले हुए कमल के समान मुख द्वारा आपके इस पुत्र ने प्रलाप किया ? यौवन उपवन धन परिजन नगर सुरभिचूर्ण और सीमंतिनियों का स्तन-मर्दन सब व्यर्थ है। जहां सज्जनों से भी बैर होता है ? वहां, हे पितृव्य ! मैं नहीं रहूँगा ? मेरे पिता ने तुम्हें पृथ्वी दी है आप राजा है. आप को जो रुचे वह करें। मुझे तो वहाँ कहीं जाना चाहिए, जहां विंध्यपर्वत में दिगम्बर मुनि रहते हैं। यह सुनकर राजा ने चित्त में अवहेलना की। तो भी पुत्र ने दूसरे के लिए राज्य का त्याग कर दिया।

युद्ध वार्तालाप

कोई योद्धा कहता है कि प्राण जांय तो जांय परन्तु प्रभु का प्रताप स्थिर रक्खूंगा। कोई योद्धा कहता है कि यदि प्रचंड शत्रु भी चढ़कर आयगा तो मैं आज उसे खंड खंड कर दूँगा। कोई योद्धा कहता है कि मैं यंत्रसज्जित हाथीदाँतों को हिन्दोलित कर दूँगा। कोई योद्धा कहता है कि जरा मुझे नहा लेने दो, पवित्र देह से प्राणदान अच्छा ? कोई योद्धा कहता है कि हसी क्या करते हो सिर देकर मैं उऋण होऊंगा। कोई भट कहता है—जहाँ मुंड पड़ेगा वहाँ मेरा रुंड शत्रु का संहार कर नृत्य करेगा। कोई

योद्धा सुरापान करके मत्तवाणी बोलता है—मैं रण में मोक्षगामी नर-संस्तुत बाण दिखाऊंगा। कोई योद्धा कहता है कि मैं असिरूपी कामधेनु से यशरूपी दूध दुहूँगा। कोई योद्धा कहता है कि चाहे मैं छिन्न भिन्न हो जाऊं तो भी मेरा पैर शत्रु के सम्मुख पड़ेगा। कोई योद्धा सरासन के दोष को दूर करता है, और सरपत्रों को उज्वल करके रख रहा है। किसी योद्धा के दोनों बाजू में तूणीर कसे हैं मानों गरुड़ के पंख उड़कर पड़ गए हों, कोई योद्धा सुन्दर वाणी में कहता है कि तुम्हारे और मेरे सौभाग्य की साक्षी है कि दूसरे के बल का सामना कर और शत्रु का शिर उतारकर जो यदि राजा को न दूँ तो दुखों को हरनेवाले घोर जिनतप का वन में प्रवेश कर आचरण करूंगा।

हनुमान रावण का संवाद

गजाधिप पर आरूढ़ होकर मयूर के कंठमार्ग को कौन चाहता है और कौन, कोपांध होकर मृगों के दुर्ग को (आत्मरक्षार्थ) चाहता है। समुद्र क्या अपनी मर्यादा को छोड़ता है, महीपति क्या दूसरे की स्त्री का अपहरण करता है, यदि दीपक ही अंधेरा करने लगे तो क्या पहाड़-खंड प्रकाश करेगा। यदि तुम ही कुकर्म का आचरण करते हो और कुमार्ग में बहते हुए अपने चित्त को नहीं रोकते, यदि जहाँ रक्षण की जगह भय उत्पन्न होने लगे तो जन किसके पास जयलाभ करेंगे। दूसरे की स्त्री का अपहरण करनेवाला और भी नानाविध दुःख उठाता है। यह सुनकर लंकेश्वर बोला—'इस रंड-कहानी को कौन सुने। पहले तो जनक हमारा किंकर है और फिर राम, दशरथ, भी किंकर हैं। फिर भी उसने उसको सीता दे दी, इसे मैं कैसे क्षमा कर दूँ? गृहदासी सीता से रमण क्यों न करूँ? वह पहले

मुझे प्राप्त हुई थी, किन्तु रघुनाथ को दे दी गई। बाद में मृग के छल से नयपुरुष की पत्नी, सीता को मैं हर ले आया।

राम की प्रतिज्ञा

गिरि, सिंह से भय उत्पन्न करता हुआ सोहता है, और प्रभु (राम) लक्ष्मण के द्वारा धरती जीतते हुए सोहते हैं। गिरि, मत्त-मयूरों और नागों से सोहता है, प्रभु (राम) किन्नरों (स्तुति पाठकों) की ध्वनि से सोहते हैं। गिरि वनगजों से सोहता है, प्रभु (राम) जलनिवारण (छत्र) से सोहते हैं। गिरि उछल कूद करते हुए बंदरों से सोहता है प्रभु (राम) विद्याधरों की पताकाओं में अंकित बानरों से सोहते हैं। गिरि, नवीन वाण और आसन वृक्षों से सोहता है और प्रभु (राम) वाणों सहित योद्धाओं से सोहते हैं। वहाँ उन्होंने पूर्वकोटि नामकी शिला देखी, जो नारायण और बलभद्रों द्वारा पूजनीय और वंदनीय है। मंत्रियों ने कहा हे धर्मराशि? पहले इस शिला को त्रिविष्टप ने उठाया था, यदि इसे लक्ष्मण अपनी भुजाओं से उठा लेंगे तो वह तीनखंड धरती को जीतेंगे। यह सुनकर राम ने कहा क्या तुम्हारे मन में अभी भी भ्रांति है जब तक वह रावण का निर्दलन करे और विभीषण को राजलक्ष्मी दे तब तक तुम्हें संदेह बना रहेगा। शीघ्र ही वह सब के हृदयों का संदेह दूर करेगा। जो अतुलनीय से तुलना करता है और जो बलवान् शत्रु को भी नवा देता है, कुल को उज्वलकरनेवाला वह लक्ष्मण इस शिला को क्यों न उठाएगा?

सीता का विलाप

सीता दहाड़कर रोने लगीं कि हे मनोभिराम लक्ष्मण, तुमने राम को अकेला क्यों छोड़ दिया, मुझसे कहो तो? तुम्हारे बिना

मेरे जीवन को क्या आसरा ? फिर पूजा करके लक्ष्मण का शरीर-दाह कर दिया गया। और राम ने शांत होकर हृदय में धैर्य धारण किया। हाथों से सिर पीटते, हाहाकार करते और रोते हुए अन्तःपुर को संबोधित किया। और लक्ष्मण के पृथ्वीचंद नामक पुत्र का शीघ्र अभिषेक करके अपने कुल का राजा बनाया। किन्तु सात जनों के साथ, सीता के बलिष्ठ भुजावाले पुत्रों ने राजलक्ष्मी की इच्छा नहीं की। शीघ्र ही उनके चरणों में नमन करके अजितंजय मिथिला नगरी को चला गया। साकेतनगरी के, भ्रमणशील चंचलभौंरों से श्यामल, सिद्धार्थ नाम के वन में, श्रीराघव ने मद मोह का नाशकर, शिवगुप्त के पास तपश्चरण लिया। उस समय, राम के साथ, विवेकवान् सुग्रीव हनुमान और विभीषण ने भी निर्विण्ण होकर दीक्षा ली।

परतंत्र जीवन

परदेश का जाना, दूसरे के घर में रहना, पराधीन जीना और दूसरे का दिया हुआ कौर (ग्रास) लेना भाड़ में जाय। पर के उस राज से क्या जिसमें दूसरों की टेढ़ी भौंहों का भय बना रहता है। अपनी भुजाओं से अर्जित,वन में हल जोतना अच्छा पर दूसरे का दिया राज अच्छा नहीं, मैं गिरिकुहर को श्लाघनीय और उत्तम मानता हूँ, पर प्रभा से महार्घ दूसरे के सौधप्रासाद को अच्छा नहीं समझता, भले ही उसमें .... नरनारी क्रीड़ा कर रहे हों। बहुत समय के अनंतर लौटकर, वणिक् वीरदत्त ने आकर देखा कि सेठ (वणिक्पति) सुमुख, मदविह्वल होकर, वनमाला में आसक्त है। संताप से अत्यन्त क्षीण हृदय, वह, कुख्यात निर्बल और निर्धन हो चुका है। किसी बलिष्ठ के छेड़ने पर क्या करे यही सोचता हुआ वह मर जायगा। इस प्रकार दुष्ट की संगति से उसे

सीख मिली। और उसने पोट्टिल मुनि के समीप जाकर दीक्षा ले ली। वह सोचने लगा कि अब स्त्री और धन से क्या, अनशन द्वारा मन संयत करके जिस समय वह मरकर, सौधर्म स्वर्ग में चित्रांगद नामका यौवनसम्पन्न देव हुआ, उसी समय राजा मघवंत का बेटा रघु भी श्रावक व्रत धारणकर, और मद का निग्रह कर, वहीं सूरप्रभु नामका देव हुआ।

कृष्ण का बचपन !

धूलधूसरित उत्तमबाण छोड़नेवाले, क्रीड़ारस के वशीभूत गोपालक और गोपियों का हृदय हरणकरने वाले, कृष्ण ने कौतुक से खेलते खेलते, घूमती हुई मथानी पकड़ ली। और आवर्तित उस मथानी को तोड़कर अर्धविलोलित दही उलट दिया। कोई गोपी कृष्ण से चिपट गई और बोली कि इन्होंने मेरी मथानी तोड़ डाली है, इसके मोल में यह मुझे आलिंगन दें या फिर, मेरे आँगन से न जाँय। किसी गोपी का सफेद वस्त्र हरि के शरीर की श्यामलता से काला हो गया, वह मूर्खा उसे पानी से धोती है, और इस प्रकार सखियों को अपनी मूर्खता दिखाती है। स्तनपान की इच्छा से भूखे, अपनी मां के सामने दौड़ते हुए, भैंस के बच्चे को हरि ने पकड़ लिया, और वह उनके हाथ के बंधन से निकल नहीं पाता। ग्वाला दुहने के हाथ को बार बार प्रेरित करता है और बार बार माधव को क्रीड़ारस से पूरित करता है। कहते हैं कि अंगना के घर में आने को उत्सुक हाथी के बच्चे को बालक (कृष्ण) ने रोक लिया। यशोदा बड़ी कठिनता से कृष्ण से गुंजा की कन्दुकक्रीड़ा छुड़ा सकीं। कहते हैं कि कृष्ण ने रखे हुए नवनीत के पिंड को वैसे ही खा लिया जैसे कंस के यश को।

कृष्ण के हाथ फैलाकर श्रुतिमधुर ध्वनि और नृत्य करने पर, गोपियों का मन घर में नहीं लगता।

पोयणुनगर का वर्णन

जहां इन्द्रनील मणियों की रंगविरंगी प्रभा आँखों के काजल की तरह प्रतीत होती है और पद्मरागमणि की बिछलती हुई कांति ऐसी जान पड़ती है मानों कुंकुम का अवलेप हो। जहाँ भद्र महिलाओं की स्तनस्थली तथा रंगावली हारावलियों से एक सी शोभित हैं, अत्यन्त शुभ्रकपूर की धूलि और कुसुम मालाओं के पराग से, भौंरे चंचल हो रहे हैं। रास्तों में सामंत मंत्री भट और अनुचर तथा अन्य नागरिक आ जा रहे हैं। जहाँ चन्द्रकांत मणियों के झरनों से शीतल और निर्मल जल बह रहा है। जहां सभी मनुष्य सुभगरूपवाले और लावण्ययुक्त तथा सुंदर हैं। जहां क्षत्रिय अपने क्षात्र धर्म में स्थित हैं और ब्राह्मण, अपने धर्म का आचरण करते हैं, वैश्य-प्रवर वैश्यवर्ण के अनुरूप हैं. जहां शूद्र भी शुद्धमार्ग का अनुसरण करते हैं, वहां राजा चारों वर्णों का स्वामी होकर रहता है उसका नाम अरविंद है जो शत्रुसमूह के लिए साक्षात् यम है, परस्त्रियों के लिए अत्यन्त दुर्लभ, और लक्ष्मी का अधिपति है।

आत्मपरिचय

सिद्धिविलासिनी के मनोहर दूत, मुग्धादेवी के शरीर से उत्पन्न, गरीब अमीर को एक दृष्टि से देखनेवाले, सभी जीवों के अकारण मित्र, शब्द सलिल से अपने काव्य स्रोत को बढ़ाने वाले, केशव के पुत्र, काश्यपगोत्री, सरस्वतीविलासी, सूने घाटों और वीरान देवकुलों में रहने वाले, कलि के प्रबल पाप-पटलों से

रहित, बेघरबार, पुत्र कलत्रहीन, वापियों और तालाबों में स्नान करने वाले, पुराने वस्त्र और वल्कल पहिननेवाले, धूलधूसरित अंग, और दुर्जनों के संग से दूर रहनेवाले, धरती पर सोने वाले और अपने ही हाथों को ओढ़नेवाले, पंडितमरण की प्रतिज्ञा रखने वाले, मान्यखेटवासी, अरहंत की मन में उपासना करनेवाले, भरतमंत्री द्वारा सम्मानित, अपने काव्यप्रबंध से लोगों को आनंद मग्न करनेवाले और पापरूपी कीचड़ को धो डालनेवाले अभिमानमेरु पुष्पदंत ने जिनभक्ति में हाथ जोड़कर, क्रोधनसंवत्सर की आषाढ़ सुदी दसवीं को भक्तिपूर्वक यह काव्य बनाया।

भविसयत्तकहा

धनपाल

[१]

रात्रि का अंत हुआ, और सबेरा प्रकट हुआ, मानों अन्वेषण करता हुआ सूर्य फिर आ पहुँचा। जिन भगवान का ध्यान कर धीर भविसयत्त फिर चला। रोमांचित शरीर होकर, वह वन में भ्रमण करने लगा। वहाँ उसे शुभ शकुन होने लगे। दाईं ओर श्यामा उड़ने लगी, बायीं ओर मंद-मंद हवा बहने लगी। कौआ प्रियमिलन की सूचना देने के लिए बोलने लगा। बायीं ओर लावा ने किलकिंचित् किया और दायीं ओर मृग अपने अंग दिखलाने लगे। भुजा के साथ, दायीं आँख भी फड़कने लगी मानो वह कह रही थी कि इसी रास्ते से जाओ। थोड़ी दूर पर, पुराना रास्ता दिखा, वैसे ही जैसे किसी भव्य पुरुष को जिन सिद्धान्तग्रंथ। वह सज्जन विचार करने लगा कि विद्याधर और देवता तो भूमि का स्पर्श नहीं करते, यहाँ यक्ष राक्षस और किन्नरों का भी संचार नहीं है, अतः इस रास्ते पर मनुष्य अवश्य

चलते होंगे, इसलिए इसी मार्ग से मैं भी चलूँ। जब वह उस रास्ते से चला तो एक गिरिगुफा में प्रवेश करने लगा। वह धीर वीर व्यक्ति सोचने लगा—चाहे कोई इस शरीर को खा ही ले, मैं इस गुफा में प्रवेश करूँगा। मेरा काम पूरा हो गया, अब कार्य विस्तार की क्या आवश्यकता। साहसी मनुष्य दुस्तर दुर्लंघ्य, दूरतक पहुँचे हुए स्थानों में चले जाते हैं, भला मृत्युभय का निरादरकरने वाले पुरुषों के पुरुषार्थ से क्या सिद्ध नहीं होता।

[२]

सुहृद स्वजन और मरने का भय छोड़कर, अभिमान तथा पौरुष का स्मरण कर, सात अक्षर वाले मंत्र का जाप कर और चंद्रप्रभ भगवान् का हृदय में स्मरण कर, वह तरुण व्यक्ति काजल की तरह घने अंधकार से पूर्ण उस गिरिगुहा में उसी प्रकार घुसा जैसे काल (समय) से छिपा हुआ काल (मृत्यु) चलता है। अथवा जिस प्रकार जीव व्यामोहरूपी अंधकार के समूह-जाल में प्रविष्ट होता है। पवनसंचार न होने से वह बहरा सा हो रहा था। किसी अचिन्त्य सुख के कारण वह चिंतातुर हो रहाथा और विषम साहस के कारण रोमाञ्चित। जब कुछ दूर और गया तो उसे अंधकारशून्य नगर दिखाई दिया। उसमें चार बड़े प्रासाद और चार गोपुर दीख पड़े। चार बड़े-बड़े दरवाजे थे। उस नगर में रत्नों और मणियों की कान्ति छिटक रही थी। नगर के प्रत्येक घर में कमलों की प्रभा विकीर्ण थी। कुमार ने धन और कांचन से पूर्ण उस नगर को देखा। यद्यपि वह नगर धनसम्पन्न था, पर निर्जन होने से जलहीन, कमलों से लदे, सरोवर की तरह, सौन्दर्यहीन मालूम होता था।

[३]

उस पुर में प्रवेश करते हुए, उसे ऐसी कोई वस्तु नहीं दिखाई दी जो प्रिय न हो। बावड़ी और कुआ वहाँ बहुत ही सुन्दर और अनेक थे। मठ विहार और मंदिरों के कारण, वह नगर अत्यन्त रमणीय लगता था। पर उन मंदिरों में किसी व्यक्ति को पूजा करने के लिए उसने जाते नहीं देखा। वहाँ फूलों से मीठा परिमल झड़ रहा था पर कोई उसे सूँघनेवाला नहीं था। पके हुए धान्य और अन्न को नष्ट होने से बचाने के लिए, वहाँ कोई ऐसा न था जो काट कर उन्हें घर लाता। मड़राते हुए भौंरों के गुंजन से मुखरित कमलों से सरोवर भरे थे, पर उनको तोड़ने वाला कोई नहीं था। उसे यह देखकर विस्मय होता था कि वृक्षों के फल हाथ से तोड़े जा सकते हैं। पर किसी कारण, कोई उन्हें तोड़कर नहीं खाता। दूसरे के धन को देखकर न उसे क्षोभ ही होता था और न लोभ ही। वह मन ही मन सोच रहा था, अचरज की बात है कि यह नगर बड़े विचित्र ढंग से बना है, यहाँ के निवासी जन या तो व्याधि से मर गए या फिर म्लेच्छ और राक्षसों ने उन्हें नष्टकर डाला। यहाँ का राजकुल भी विचित्र ढंग से निर्मित हुआ है। पर यहाँ के राजा का पता ही नहीं। ना मालूम, किस कारण यह अवस्था हुई। वह कुमार, नसों में धड़कन लेकर विस्फारित नेत्रों से, पद-पद पर विस्मय करता हुआ, उस नगर में भ्रमण कर रहा था, वृक्षों के पल्लव और दलों के कारण वह नगर अत्यंत सुकुमार था।

[४]

वहाँ पर उसे अधखुले झरोखोंवाले मंदिर दीख पड़े, उनकी छटा, कनखियों से देखनेवाली नववधुओं के कटाक्षों सी मालूम होती थी। गवाक्षों के कांचफलकों से मंदिरों के प्रच्छन्नभाग उसी प्रकार दीख पड़ते थे जिस प्रकार अपर्याप्त और झीने वस्त्र से आवृत, स्त्रियों के उरुप्रदेश। भीतर, विविध वस्तुओं के भाण्डों से भरे हुए बाजारों की शोभा नागिनी के फन पर स्थित चिह्न की सी थी। बाजारों का अंधकारपूर्ण भाग—प्रकाशित था ठीक वैसे ही जैसे विवाह की इच्छा रखने वाले मनुष्यों के चित्त किसी कुमारी को देखने से। बाजारों में लोगों की भीड़ योगियों के विवादों सी जान पड़ती थी। नगर में भीड़ ऐसी मालूम होती थी जैसे वस्त्ररहित मिथुनों के सुरतारम्भ। उसने दरवाजों को गोपद मार्गों से रहित देखा। प्रासाद के भीतर वायु के द्वारा कंपित उज्वल ध्वजाएँ दीख पड़ती थी। जो महल पहले जनसंकुल होने से कोलाहलमय थे वे आज वैसे ही निःशब्द हैं जैसे सुरति के बाद मिथुन। जो पवित्र जलाशय, सदैव पनहारिनों से भरे रहते थे वे आज संयोगवश निःशब्द हैं। सम्पत्तिशाली स्थानों को देखकर उसके अंगों में उन्माद भर रहा था। अपनी देह की छाया को देखकर वह धीरे-धीरे चलता रहा। कुमार विचित्र ढंग से घूम रहा था। उसका सारा अंग विस्मित था। हा दैव ? यह सुंदर और समृद्ध नगर जनशून्य किस लिए है ? यह बाजारमार्ग कुलशीलसम्पन्न वणिकपुत्रों के बिना शोभा नहीं पा रहा है। इसकी अवस्था इस समय वैसी ही हो रही है जैसे जुआ-

खेलनेवालों के बिना जुआघर की, अथवा यौवनहीन वेश्या की। श्रेष्ठ घरों के आंगन का विस्तार मनुष्यों के बिना शोभाहीन है। पात्रों से युक्त भी रसोईघर शून्य होने से अच्छे नहीं लगते। उनकी अवस्था वैसी है जैसे सज्जनों के बिना परदेश। हा! अधिक कहने से क्या फल? इसको देखकर, कौन दुखी नहीं होता? जो क्षयकाल से युक्त है उसे समृद्धि कैसे मिल सकती है।

मुनि रामसिंह

जो सुख, अपने अधीन हो उसीमें संतोष कर। हे मूर्ख, दूसरों के सुख की चिंताकरनेवालों के हृदय का सोच, कभी नहीं जाता॥ १॥

जो सुख, विषयविमुख होकर अपनी आत्मा का ध्यान करने में मिलता है, वह सुख, करोड़ों देवियों के साथ रमण करनेवाला इन्द्र भी नहीं पाता॥ २॥

साँप, काँचली तो छोड़ देता है परन्तु जो विष है उसे नहीं छोड़ता। इसी प्रकार (मनुष्य) मुनि का वेष तो धारण कर लेता है परन्तु भोगों के भाव का परिहार नहीं करता॥ ३॥

मैं गोरा हूँ, मैं सांवला हूँ, मैं विभिन्न वर्ण का हूँ, मैं दुर्बल हूँ, मैं स्थूल हूँ। हे जीव, ऐसा मत मान॥ ४॥

न तूं गोरा है न साँवला, न एक भी वर्ण का है। न तूं क्षीण है और न स्थूल। अपने स्वरूप को ऐसा जान॥ ५॥

न मैं श्रेष्ठ ब्राह्मण हूँ। न वैश्य हूँ। न क्षत्रिय हूँ। न शूद्र हूँ। न पुरुष नपुंसक और स्त्रीलिंग हूँ। ऐसा विशेष जान॥ ६॥

हे जीव! देह का जरामरण देखकर भय मत खा। जो अजरामर परब्रह्म है उसे ही अपना मान॥ ७॥

ज्ञानमय आत्मा के अतिरिक्त और भाव पराया है। उसे छोड़कर, हे जीव, शुद्ध आत्मभाव का ध्यान कर॥ ८॥

तूंने, न तो पाँच बैलों को रखाया और न नंदनवन में प्रवेश किया। न अपने को जाना और न पर को। योंही परिव्राजक बन गया। [पाँच बैल = इन्द्रियाँ, नंदनवन = आत्मा]॥ ९॥

मन परमेश्वर से मिल गया और परमेश्वर मन से। दोनों समान हो रहे हैं पूजा किसे चढ़ाऊँ॥ १०॥

देव की आराधना करता है। परमेश्वर कहाँ चला गया? जो शिव सर्वांग में व्याप्त है उसका विस्मरण कैसे हो गया॥ ११॥

जो न जीर्ण होता है न मरता है और न उत्पन्न होता है। जो सबके परे कोई अनंत ज्ञानमय त्रिभुवन का स्वामी है, वही निर्भ्रान्त शिव है॥ १२॥

जब भीतरी चित्त मैला है तब बाहर तप करने से क्या? चित्त में उस विचित्र निरंजन को धारण कर, जिससे मैल से छुटकारा हो॥ १३॥

हाथ से अधिष्ठित जो छोटा देवालय है, वहाँ बाल का भी प्रवेश नहीं हो सकता। संतनिरंजन वहीं बसता है। निर्मल होकर ढूँढ़॥ १४॥

बहुत पढ़ा, जिससे तालू सूख गया पर मूर्ख ही रहा। उस एक ही अक्षर को पढ़, जिससे शिवपुरी में गमन हो॥ १५॥

मैं सगुण हूँ और प्रिय निर्गुण निर्लक्षण तथा निसंग है। एक ही अंगरूपी अंक में बसने पर भी, अंग से अंग नहीं मिल पाया ॥ १६ ॥

षड्दर्शन के धंधे में पड़कर, मन की भ्रांति नहीं मिटी। एक देव के छः भेद किए इससे वे मोक्ष नहीं जाते ॥ १७ ॥

हे मूड़ मुड़ाने वालों में श्रेष्ठ मुंडी ? तूंने सिर तो मुड़ाया पर चित्त को नहीं मोड़ा। जिसने चित्त का मुंडन कर डाला उसने संसार का खंडन कर डाला ॥ १८ ॥

पुण्य से विभव होता है, विभव से मद, मद से मतिमोह और मतिमोह से नरक, ऐसा पुण्य मुझे नहीं चाहिए ॥ १६ ॥

किस की समाधि करू ? किसे पूजूं, स्पृश्य अस्पृश्य कहकर किसे छोड़ दूं, भला किसके साथ कलह ठानूं। जहाँ-जहाँ देखता हूँ, तहाँ-तहाँ अपनी ही तो आत्मा दिखाई देती है ॥ २० ॥

तूं तड़-तड़ पत्तियाँ तोड़ता है, मानो ऊंट का प्रवेश हुआ हो, मोह के वशीभूत होकर, तूं यह नहीं जानता कि कौन तोड़ता है और कौन टूटता है ॥ २१ ॥

हे जोगी ? पत्ती मत तोड़, और फलों पर भी हाथ मत बढ़ा। जिसके लिए तूं इन्हें तोड़ता है, उसी शिव को तूं यहीं चढ़ा दे ॥ २२ ॥

देवालय में पाषाण है, तीर्थ में जल और सब पोथियों में काव्य है, जो वस्तु फूलीफली दिखती है वह सब ईंधन हो जायगी ॥ २३ ॥

(तुम) अक्षरारूढ़ और स्याहीमिश्रित पुस्तकों को पढ़ते पढ़ते क्षीण हो गए, परन्तु यह परमकला न जानी कि जीव कहां उगा और कहां लीन हुआ ॥ २४ ॥

आगे पीछे, दशों दिशाओं में जहाँ मैं देखता हूं तहां वही है, अब मेरी भ्रांति मिट गई, अब अवश्य किसी से नहीं पूछना ॥ २५ ॥

वन में, देवालय में, तीर्थों में भ्रमण किया और आकाश में भी देखा। अहो, इस भ्रमण में भेड़िओं और पशु लोगों से भेंट हुई ॥ २६ ॥

शशि पोषण करता है रवि प्रज्वलित करता है पवन हिलोरें लेता है किन्तु सात रज्जु अंधकार को लेकर काल कर्मों को खा जाता है ॥ २७ ॥

मुनि कनकामर

करकण्ड का अभियान

यह सुनकर चम्पा का राजा वद्धराग होकर (युद्ध के लिए) संनद्ध हो गया। इसी बीच में दंतीपुर का राजा मंदराचल सहित धरती को कम्पित करने लगा। शत्रुओं के जीवन को नष्ट करने वाले उसके प्रस्थान से दशों दिशाओं मे धूल उठने लगी। आकाश धूल से भर गया और सूर्य भी अपने व्रत से स्खलित हो गया। उसने क्रोध में आकर शीघ्र प्रयाण का आदेश दिया।

गंगा का दृश्य

गंगाप्रदेश में पहुंचने पर, जाते हुए उसे गंगा नदी दिखाई दी। टेढ़ी, मेढ़ी वह स्वच्छजल से, बहुत सुंदर लगती है

मानो शेषनाग की पत्नी जा रही हो। दूर से बहती हुई, वह बहुत भली लगती है, मानो गिरिराज हिमालय की कीर्ति हो। दोनों किनारों पर लोग स्नान कर रहे हैं, दर्भ लिए हुए, अपने हाथ उठाकर सूर्यदेव को जल चढ़ा रहे हैं, मानों इन सबके व्याज से गंगा जी कहना चाहतीं हैं,—मैं तो अपने शुद्ध रास्ते जा रही हूँ, हे स्वामी आप हमारे ऊपर रुष्ट न हों।" नदी का निरीक्षण कर, करकंड नाम का वह राजा, अपने पिता के नगर में गया, वह नगर गुणों का तो आश्रय ही था। उसने युद्ध में धनुर्धरों द्वारा मुक्त बाणों से विद्याधर और देवों को भय उत्पन्न कर दिया और दुद्धर हाथियों घोड़ों और राजों के द्वारा नगर को चारों ओर से घेर लिया।

आक्रमण का प्रतिरोध

तब चम्पा नरेश उठा और युद्ध में देवों को भी भय उत्पन्न करने वाले उसके अनुचर दौड़े। वायु के समान वेगशील घोड़े तथा हाथी सजा दिए गए। चक्रों से चिक्कार करते हुए बड़े २ रथ चलने लगे। और कोई कोई हक्कार डक्कार और हुंकार करते हुए, भाले लेकर दौड़े। कोई कोई स्वामी के सम्मान को बहुत मान कर और राजा के पादपद्मों में अतिशय भक्ति से, हाथ में धनुष लेकर दौड़ पड़े, वे रणदुद्धर थे और उनके हृदय में उत्साह था। कोई क्रोध से काँपते हुए और कोई तलवार चमकाते हुए। कोई रोमांचित होकर, और कवच बांध कर, कोई युद्धभूमि के रस में मग्न होकर और कोई स्वर्गवासियों की निश्चल सम्पत्ति से युक्त होकर, दौड़ पड़े। चम्पा का राजा बाहर निकला। वह उत्तम हाथी और घोड़ों से सज्जित था। कहो, उसकी प्रचंड

भयंकर और बलिष्ठ भुजाओं से किसने उसका अनुसरण नहीं किया।

युद्ध वर्णन

आहत तूरों से (सूड़ों से) धरती भर गई। युद्ध के बाजे बजने लगे, और सेना तैयार होने लगी, आदेश मिलने पर, सेना एक कतार बांधकर, शत्रु-समूह पर टूट पड़ी। भाले टूटने लगे और हाथी गरजने लगे। वे वेग से दौड़े और हाथियों की खीसों से जा लगे। शरीर टूटने लगे। सिर फूटने लगे, रुंड दौड़कर शत्रु-स्थान में पहुंचने लगे। आँतों को शस्त्र भेदने लगे। रक्त की धारा बहने लगी, हड्डियाँ मुड़ने लगीं, गर्दनें टूटने लगीं। जो कायर हैं वे भाग खड़े हुए, कोई भिड़ रहे हैं और कोई कोई तलवार खींचकर खड़े हैं। और कितनों ही ने तलवार ऊपर उठा ली है।

आचार्य हेमचंद

गंगा और यमुना (इडा और पिंगला) के आभ्यन्तर को जब हंसरूपी आत्मा छोड़ देती है और सरस्वती (सुषुम्ना) में स्नान करती है, तब वह आत्मा किसी भी ऊँचे स्थान पर पहुँच कर, रमण करने लगती है, यही अनाख्येयस्थान मोक्ष है ॥१॥

मूर्खो ? विषयों के पराधीन होकर अथवा बंधु और मित्रजनों के मोह में पड़कर बैठ रहना ठीक नहीं। दोनों, शशि और सूर्य (इडा और पिंगला) में मन का निवेश करो। बंधु और मित्रों के बिना रहो। [अपने मन को शुभ भावों में लगाओ] ॥२॥

मनुष्य यदि हिमालय पर चढ़कर गिरे और या एकमन

होकर प्रयागतरु से गिरे, तो भी निष्कपट शुद्धाचार और चित्त-शुद्धि के बिना, वह मोक्ष नहीं पा सकता ॥३॥

अदृष्ट तंत्री (नाडीजाल) में शरीर रूपी वीणा बज रही है। उर कंठादि स्थानों को ताड़ित करता हुआ शब्द उठ रहा है, इस लिए जहाँ विश्राम प्राप्त हो उसी का ध्यान करो, मुक्ति के अन्य कारण निष्फल हैं ॥४॥

जो सत्यवचन बोलता है और जो उपशम भाव को धारण करता है वह निर्वाण को प्राप्त करता है ॥५॥

यमुना गंगा सरस्वती और नर्मदा प्रभृति नदियों में जा जाकर अज्ञानी लोग, पशु की तरह जल में डुबकी लगाते हैं। क्या जल मोक्षसुख देने वाला है ? ॥६॥

पुरानी हिन्दी

प्रबन्ध चिन्तामणि

राजा विक्रमादित्य ने रात में नगर का निरीक्षण करते हुए दोहे का प्रथमार्ध किसी तेली के मुख से सुना, दूसरे दिन दरबार में बुलाये जाने पर, उसने उत्तरार्ध सुनाया। बलिवंधन पद में श्लेष है, बलि का अर्थ राजा और कर है—

हे नारद, कृष्ण से हमारा संदेश कहा जाय कि जग दरिद्रता में डूब रहा है, बलिबंधन (कर का बोझ) छोड़ दो ॥१॥

कच्छ के राजा लाषाक को मूलराज ने कपिलकोटि के किले में घेर लिया, लाषाक रणभूमि में उसे ललकार रहा है—

लाषाक निसंकोच होकर कह रहा है कि यदि उदीयमान पराक्रमी वीर ने शत्रुओं को संतप्त नहीं किया, तो क्या ? दिन तो, गिने हुए मिलते हैं, दश या आठ ।।२।।

मालव नरेश मुंज किसी स्त्री में आसक्त था, वह रात ही रात ऊंट पर चढ़कर बारह योजन जाता था, कुछ दिन बाद, मुंज ने जाना छोड़ दिया, इस पर उस खंडिता ने यह दोहा लिखकर भेजा—

हे मूर्ख मुंज देखते नहीं हो कि डोरी सूख गई है, आषाढ़ में घन गरजने पर द्वार पर फिसलन हो जायगी ।।३।।

तैलिंग देश के राजा तैलप पर मुंज ने आक्रमण किया, पर गोदावरी के उस पार वह बंदी बना लिया गया। बाद में उसका तैलप की बहिन मृणालवती से प्रेम हो गया. एक दिन मुंज दर्पण में अपना मुंह देख रहा था, पीछे मृणालवती खड़ी थी। मुंज का यौवन और अपनी अधेड़ अवस्था देखकर वह चिंता करने लगी, इस पर मुंज ने उसे ढांढस दिया—

मुंज कहता है, हे मृणालवती ! गत यौवन की चिंता मत कर। शक्कर के सौ खंड भी हो जांय तब भी वह मीठी रहती है ? ।।४।।

स्त्रियां सौ चित्त, साठ मन और बत्तीस हृदयों की होतीं हैं, जो मनुष्य उनका विश्वास करते हैं वे दग्ध होते हैं ।।५।।

मुंज का आत्मकथन—

आग में जलकर, या खण्ड-खण्ड होकर क्यों नहीं मर गया। राख का ढेर क्यों नहीं हुआ ? डोरी में बंधा हुआ मुंज वैसे ही घूम रहा है जैसे बंदर ? ।।६।।

गज चले गए, रथ चले गए, घोड़े चले गए। और पैदल अनुचर भी चले गए। हे स्वर्गस्थित रुद्रादित्य मुझे भी शीघ्र बुला लो ? ॥७॥

बंदी मुंज को हाथ में दोना लिए भीख मांगते देखकर किसी गर्विता ने उसे छाछ पिला दी और भीख नहीं दी, इस पर मुंज की यह उक्ति है—

हे भोली मुग्धे हाथ में दोना देखकर गर्व न करो ? मुंज के चौदह सो छहत्तर हाथी चले गए ॥८॥

मुंज मृणालवती से कहता है कि जो मति बाद में होती है यदि वह पहले हो जाय तो कोई भी विघ्न न घेरे। ॥९॥

समुद्र जिसकी परिखा थी और लंका गढ़ थी, ऐसा रावण भी, भाग्य के क्षय होने पर भग्न हो गया, इसलिए हे मुंज विषाद मत करो ? ॥१०॥

भोज के दरबार में उपस्थित हुए, एक सरस्वतीकुटुम्ब की सूचना, द्वारपाल राजा को दे रहा है—

पिता विद्वान् है, बेटा विद्वान् है, माता और बेटी भी विदुषी हैं। बेचारी कानी दासी भी विदुषी है, हे राजन् वह परिवार विद्वपुंज जान पड़ता है। ॥११॥

जिस समय दश मुख और एक शरीरवाला रावण उत्पन्न हुआ तो माता अचरज में सोचने लगी कि दूध किस मुंह से पिलाऊं ? ॥१२॥

किन्हीं विरह-करालिताओं ने बेचारे कौए को उड़ा दिया, हे

सखि ! मैंने यह आश्चर्य देखा कि वह कष्ट में मारा मारा फिरता है ॥१३॥

रात में निरीक्षण करते हुए भोज ने एक दिगम्बर के मुंह से यह दोहा सुना, दूसरे दिन, राजा ने उसे बुलाकर सेनापति बना दिया। पीछे उसने अनहिलपट्टन जीतकर, जयपत्र प्राप्त किया—

यह जन्म व्यर्थ गया। मैंने योद्धा के सिर पर खड्ग भग्न नहीं की, तेज घोड़े पर नहीं चढ़ा और न गोरी के गले लगा ॥१४॥

मार्ग नवीन जल से भरे हैं आकाश में मेघ गरज रहे हैं यदि इस बीच में आयगा तो स्नेह जाना जायगा। ॥१५॥

भोज ने राजसभा में गुजरातियों के भोलेपन की हंसी की। यह जानकर गुजरात के राजा भीम ने एक गोपाल भोज के पास भेजा। गोपने उसे यह दोहा सुनाकर सरस्वतीकंठाभरण की उपाधि प्राप्त की।

हे भोज ! कहो, गले में यह कंठा कैसा प्रतीत होता है। उर में लक्ष्मी और मुँह में सरस्वती की क्या सीमा बाँध दी गई है? ॥१६॥

भोज ने रात में निरीक्षण करते हुए एक दरिद्रा से यह दोहा सुना—

मनुष्य की दश दशाएँ लोक में प्रसिद्ध सुनी जाती हैं, परंतु मेरे पति की एक ही दशा है और तो वे चोरों ने ले लीं ॥ १७ ॥

मरते समय भोज ने कहा था कि शवयात्रा के समय मेरे हाथ बाहर रक्खे जाँय, इस पर एक वेश्या की उक्ति है—

अरे, पुत्र स्त्री और कन्या किसके हैं ? और खेती-बाड़ी भी किसकी ? अकेला ही आना है, और हाथ पैर दोनों झाड़कर अकेला ही जाना है ॥ १८ ॥

समुद्रतट पर टहलते हुए सिद्धराज से उसके चारण ने यह कहा—

हे नाथ ? आपको कौन जानता है, आपका चित्त चक्रवर्ती है, हे कर्णपुत्र ? जो शीघ्र लंका को लेने के लिए, मार्ग देख रहा है ॥ १९ ॥

नवघन के मारे जाने पर, उसकी पत्नी का यह कथन है ?

वह राणा अब स्वच्छंद नहीं है, वह पृथ्वी पर न तो कभी पड़ा रहा है और न पड़ा रहेगा, खंगार के साथ अब मैं अपने प्राणों को आग में क्यों न होम दूँ ॥ २० ॥

सब राजे तो बनिया हैं, किंतु सिद्धराज जयसिंह बहुत बड़ा सेठ है, उसने हमारे गढ़ के नीचे क्या वाणिज्य फैलाया है ॥ २१ ॥

नवघन खंगार के मारे जाने पर यह उक्ति कही गई है—

हे गुरु गिरनार तुमने मन में कौन सा मत्सर धारण किया, खंगार के मारे जाने पर तुमने एक शिखर भी (शत्रुओं पर) नहीं गिराई ॥ २२ ॥

जयसिंह वीर होकर भी लम्पट था, नवघन के मारे जाने पर वह उसकी स्त्री की ओर हाथ बढ़ाने लगा, नवघन की पत्नी उसे फटकार रही है—

हे जयसिंह, बाँह मत मोड़ो ? ठहरो ठहरो, यह विरूप होगा,

नदी की तरह नवघन के बिना मुझमें नया प्रवाह नहीं आ सकता ॥ २३ ॥

हे वर्धमान (नगर का नाम) तुम्हारी बढ़ती भुलाए भी नहीं भूलती । हे भोगावह (नदी) तुमसे अब शून्यप्राण भोगा जायगा । [क्योंकि अब नवघन नहीं है] ॥ २४ ॥

आ० हेमचंद की माता के उत्तरकर्म के अवसर पर उसके विरोधियों ने उसका विमान भंग कर दिया इस पर वह सोचते हैं—

या तो स्वयं समर्थ हो या फिर किसी समर्थ को हाथ में ले । कार्य करने की इच्छारखनेवाले व्यक्ति को दुनिया में तीसरा रास्ता नहीं ॥ २५ ॥

सुहागिनें सखी की पहनी हुई चोली को तान रही हैं ठीक ही है कि तरुणीजन जिसके गुण को पीठ पीछे ग्रहण करतीं हैं । [यहाँ गुण का अर्थ है डोरी और गुण] ॥ २६ ॥

दो चारण दूहाविद्या में होड़ लगाकर अणहिलपट्टन में आए, एक ने हेमचंद के सामने यह दोहा पढ़ा—

मेरी लक्ष्मी और सरस्वती दोनों खोटी हैं । वे भाग गई हैं और मैं मरता हूँ । हेमचंद की सभा में जो समर्थ हैं, वे ही पंडित हैं ॥ २७ ॥

कुमारपाल के आरती के समय प्रणाम करने पर हेमचंद, ने उनकी पीठ पर हाथ रखा, यह देखकर दूसरा चारण बोला—

हे हेमचंद मैं तुम्हारे हाथों से मरूँ जिससे मुझे खूब समृद्धि मिले । क्योंकि नीचे मुँह किए हुए जिसको तुम चाँप देते हो

उसको भी ऊपर की सिद्धि प्राप्त होती है ॥ २८ ॥

हे स्वामी ? एक फूल के लिए भी आप सिद्धि का सुख देते हैं, आपके साथ किसकी समानता, हे जिनवर आपका कितना भोलापन है ॥ २९ ॥

कुमारपाल का उत्तराधिकारी अजयपाल बहुत अत्याचारी था, उसने जैन विद्वानों और प्रमुखों को गिन-गिनकर मरवा डाला। सौ ग्रंथों के बनानेवाले पंडित रामचंद को उसने गर्म तांबे पर चढ़ा दिया, बेचारा यह दोहा पढ़कर दाँतों से जीभ काटकर मर गया—

सचराचर महीपीठ के सिरपर जिस सूर्य ने अपने पाद (किरण) डाले उस दिनेश्वर का भी अस्त हो जाता है। होनहार होकर ही रहती है। [पाद शब्द में श्लेष है] ॥ ३१ ॥

न मारिए न चुराइए परस्त्री गमन का वारण कीजिए। थोड़ा भी थोड़ा दान कीजिए। इस प्रकार शीघ्र स्वर्ग जाइए ॥ ३२ ॥

पहला भाग

'मान नष्ट होने पर यदि शरीर न छूटे तो देश छोड़ दीजिए। पर दुर्जनों के करपल्लवों से दिखाए जाते हुए मत घूमिए ॥ १ ॥

एक मनुष्य मिमियाते हुए बकरे को यज्ञ के लिए ले जा रहा था, एक साधु ने उससे जब यह कहा तब वह चुप हुआ—

हे बकरे तुमने खुद ताल खुदाए (पूर्व जन्म में) और वृक्ष भी लगवाए और तुमने स्वयं यज्ञ का प्रवर्तन किया, अब मूर्ख ? क्यों बिबियाता है ॥ २ ॥

किसी नगर में अशुभ की शांति के लिए पशु वध होते देखकर देवता ने कहा—

कमल में कलहंसी की तरह जिसके हृदय में जीवदया बसती है, उसके पदप्रक्षालन के जल से अशिव की निवृत्ति होगी ॥ ३ ॥

एक विवाह की बधाई का वर्णन—

घनकुंकुम की धूलि से भरे गृहद्वार पर, फिसलते हुए पैरों से स्त्रियाँ नाच रहीं हैं। आभरणों की आभा से उनकी देह दीप्त है और वे सुरवधुओं की रूपरेखा को भी तिरस्कृत कर देनेवाली हैं ॥ ४ ॥

स्त्रियों को तीन चीजें प्यारी लगती हैं—कलह काजल और सिंदूर। अन्य तीन भी प्यारी होती हैं—दूध जवाँई और बाजा ॥ ५ ॥

एक राजा अपनी रानी से गद्दी का भविष्य कह रहा है—

जो राजा मेरी आन का उलंघन करेगा, जो करीन्द्र को वश में करेगा और जो कुमारी कनकवती का हरण करेगा वह यहाँ राजा होगा ॥ ६ ॥

वसंत का वर्णन—

कोयलकुल के शब्द से मुखरित, यह वसंत जग में प्रविष्ट हुआ। मानों कामदेव महानृप के विजय-अहंकार को प्रकट करनेवाला योद्धा ही हो ॥ ७ ॥

सुंदर किरणोंवाले सूर्य को उत्तर दिशा में आते देखकर मलयसमीर, दक्षिणदिशा के निश्वास की तरह बहने लगा। [इसमें श्लेष से सापत्न्य भाव व्यंजित है, सूर्य दक्षिणायन से उत्तरायण होता है] ॥८॥

अरुण नव कोपलों से परिणद्ध काननश्री ऐसी सोहती है मानों

वह, रक्तांशुक लपेटे हुए, बसंत रूपी प्रियतम से आबद्ध हो ॥९॥

भ्रमर समूह से सहित, सहकार की मंजरी ऐसी जान पड़ती है, मानो मदनानल की ज्वाला से धूँआ उठ रहा हो ॥१०॥

राजा नल दमयंती के वस्त्र पर उसे त्यागते समय रक्त से यह लिख गया था—

वट वृक्ष की दाहिनी दिशा से विदर्भ को रास्ता जाता है और बाईं दिशा से कोसल को। जहां रुचे वहां जाओ ॥११॥

नल एक ही निष्ठुर, निष्कृप और कापुरुष है इसमें भ्रांति नहीं क्योंकि जिसने रात में सोती हुई, महासती दमयंती को अकेला वन में छोड़ दिया ॥१२॥

राजगृह के राजा श्रेणिक के पुत्र अभय को प्रद्योत ने अपने यहां छल से पकड़ कर कैद कर लिया। अभय के प्रशंसनीय काम करने पर राजा ने उससे वर मांगने को कहा—उसने एक ऊटपटांग वर मांगा—जिसका अभिप्राय था कि मुझे छोड़ दो—

नलगिरि हाथी पर शिवादेवी (रानी) की गोद में बैठे मुझे अग्निभीरु (Fire Proof) रथ की लकड़ियों की आग मेरे अंग में दो ॥१३॥

जाते समय अभय बदला लेने की यह प्रतिज्ञा कर गया—

सूर्य को दीपक बनाकर (दिन दहाड़े) नगर के बीच में, हे स्वामी यदि चिल्लाते हुए तुम्हें न हरूं तो मैं आग में प्रवेश करू ॥१४॥

वेशविशिष्टों का वारण कीजिए, भले ही वे मनोहरगात्र हों। गंगाजल में प्रक्षालित कुतिया क्या पवित्र हो जाती है ॥१५॥

नयनों से रोते हैं और मन में हंसते हैं वेशविशिष्ट वही करते हैं जो करपत्र काठ को करता है ॥१६॥

हे प्रिय ! तुम्हारी वियोगाग्नि में सारे दिन किलकती हुई मैं थक गई, जैसे थोड़े पानी में छटपटाती हुई मछली ॥१७॥

मैंने समझा कि प्रिय विरहिणियों को रात में कुछ सहारा होगा, पर यह चंद्रमा वैसे ही तप रहा है जैसे क्षयकाल में दिनकर ॥१८॥

आज सवेरा है, आज दिन है, और आज ही सुवायु प्रवृत्त हुई है, आज ही सब दुखों को गलहस्त दिया गया, जो कि तुम आज मुझे प्राप्त हुए ॥१९॥

दया देव और गुरु को अंगीकार कर, सुपात्र को दान देकर तथा दीनजन का उद्धार कर अपने को सफल करो ॥ २० ॥

पुत्र, जो, जनक के मनको रंजित करता है, स्त्री, जो पति की आराधना करती है और भृत्य जो स्वामी को प्रसन्न रखता है, भलाई की यही स मा है ॥ २१ ॥

मरकतमणि के वर्णवाले प्रिय के वक्षस्थल में चम्पकवर्ण की प्रिया वैसी ही सोहती है जैसी कसौटी पर दी गई सुवर्ण की रेखा ॥ २२ ॥

मुग्धा के कपोल पर, श्वासों की आग से संतप्त और वाष्पसलिल से युक्त होकर चूड़ियाँ चूर्णविचूर्ण हो जायगीं, [गर्मी सर्दी से काँच का तड़कना स्वभाविक है] ॥ २३ ॥

निश्चय ही मैं तुम पर तुष्ट हूँ। आज मनोवांछित माँग लो, [कृष्ण ने कहा।] तब ग्वाल ने कहा—प्रभु मुझे राज वितरण करो ॥ २४ ॥

कोहल नाम के कबाड़ी, को देखकर एक रानी को अपने पूर्वजन्म की याद आ गई, उस जन्म में वह इसी कबाड़ी की पत्नी थी, और देव पूजा करके इस भव में रानी हो गई, पर

कबाड़ी, कबाड़ी ही रहा। वह कहती है—

अटवी में पत्ती और नदी में जल था, तो भी तुम्हारा हाथ नहीं हिला [पत्ती और जल से देवता की पूजा नहीं की] अरे ! उस कबाड़ी के आज भी विशीर्ण वस्त्र हैं ॥ २५ ॥

जो परस्त्री से विमुख हैं वे नरसिंह कहे जाते हैं और जो परस्त्रियों से रमण करते हैं उनसे लीख [कुल की] पोंछ दी जाती है ॥ २६ ॥

एक बहू पशु पक्षियों की भाषा जानती थी। रात को शृगाल को यह कहते सुनकर कि शव दे दे और गहने ले ले, वह वैसा करने गई, लौटते हुए ससुर ने देख लिया और कुलटा समझकर वह उसे उसके पीहर ले चला, मार्ग में वृक्ष के नीचे एक कौआ बोला—इस पेड़ के नीचे १० लाख की निधि है उसे निकाल ले और मुझे दही सत्तू खिला। इस पर वह कहती है—

मैंने एक दुर्नय किया, उससे तो घर से निकाली गई, यदि दूसरा दुर्नय करू तो प्रिय से भी न मिल सकूँगी ॥ २७ ॥

हम थोड़े हैं और शत्रु बहुत हैं यह कायर ही सोचते हैं। हे मुग्धे ! देखो, गगनतल को कितने जन प्रकाशित करते हैं ॥ २८ ॥

वही विचक्षण कहा जाता है और वही चतुर शोभता है जो उन्मार्ग में जानेवाले को पथ में लगाता है और जो स्नेही चित्त का है ॥ २९ ॥

ऋद्धिविहीन मनुष्यों का कोई भी सम्मान नहीं करता। पक्षियों द्वारा मुक्त, फल रहित श्रेष्ठ वृक्ष, इसका प्रमाण है ॥ ३० ॥

यद्यपि मनुष्य सूर सुंदर और विचक्षण भी हो, तो भी लक्ष्मी प्रतिक्षण सेवा नहीं करती। कहते हैं स्त्रियों की बुद्धि पुरुषों के गुण अवगुणों की चिंता से विमुख रहती है ॥ ३१ ॥

जो कुलक्रम का उलंघन करता है उसका अपयश फैलता

है। गुरुऋद्धि को लानेवाले भी, उसे, कोई पंडित नहीं बनाता ॥ ३२ ॥

मूर्ख मनुष्यों का मन जो दुर्लभ वस्तु की इच्छा करता है सो क्या वह शशिमंडल को ग्रहण करने के लिए आकाश में हाथ पसारता है ? ॥ ३३ ॥

देवी राजकन्या का भविष्य कह रही है—

जो सिंह का दमन करके उसपर सवारी करेगा अकेला ही शत्रु को जीतेगा। उसे कुमारी प्रियंकरी देकर, सारा राज अर्पित कर दो ॥ ३४ ॥

सोमप्रभ और सिद्धपाल की रचित कविता

परस्त्रीगमन की निंदा—

[जिसने] कुल कलंकित किया, माहात्म्य मलिन किया, सज्जनों का मुँह काला किया, निजगुणसमूह को हाथ देकर अलग किया अपयश से जग को ढक दिया, व्यसनों को अपना बनाया भद्र का दूर से वारण किया स्वर्ग को भी ढक दिया, उभय लोक में दुख देनेवाली ऐसी परदारा की कामना मत करो ॥ १ ॥

पिता, माता, भाई, सुकलत्र, पुत्र, प्रभु, परिजन और स्नेहयुक्त मित्र कोई भी जीव के मरण को रोकने में समर्थ नहीं, धर्म के बिना किसी दूसरे की शरण नहीं। यहाँ राजा भी रंक, स्वजन भी शत्रु, पिता भी पुत्र और माता भी स्त्री, होती है, संसार के रंगमंच पर नट की तरह बहुरूप यह जंतु कुकर्मवान होता है। अकेला ही जन्मता है अकेला ही मरता है और अकेला ही कर्म भोगता है। अकेला परभव में दुख सहता है, अकेला ही धर्म से मोक्ष प्राप्त करता है ॥ २ ॥

वसंत वर्णन

जहाँ रक्त पुष्पित पलाश ऐसे सोहते हैं मानों पथिकों के हृदय का मांस फूट पड़ा हो, सहकारों की मंजरियाँ ऐसी जान पड़ती है मानो मदनानल की ज्वालावली हो ॥ ३ ॥

जहाँ सूर्य, दुष्ट नरेन्द्र की तरह, अपनी तप्त किरणों से समस्त विश्व को पीड़ा पहुँचाता है और शरीर में लगकर (किरणों द्वारा) वैसे ही संतप्त करता है जैसे कोई दुष्ट महिला-जन को ॥ ४ ॥

तिलोत्तमा के रूप से व्याक्षिप्त होकर ब्रह्मा क्षणभर में चतुर्मुख हो गए और शंकर, गौरी को अर्धांग मे धारण करते हैं, काम के वशीभूत होकर, इन्द्र प्रिया के चरणों को प्रणाम करता है और गोष्ठ में केशव, गोपियों द्वारा नचाए गए, कवियों द्वारा इंद्रियवर्ग का ऐसा स्फुरण वर्णित किया जाता है ॥ ५ ॥

बालकपन में अशुचि से देह लिप्त रहती है, दुखकर दातों का निकलना और कर्णवेध, यह सोचते हुए, सर्वविवेक रहित मेरा हृदय, उत्कंपसहित हो उठता है ॥ ६ ॥

ईर्ष्या, विषाद, भय, मोह, माया, भय, क्रोध, लोभ, काम और प्रमाद, ये, स्वर्ग जाने पर भी, मेरे पीछे, वैसे ही लग जाते हैं जैसे सब लेनदार, कर्जदार के पीछे ॥ ७ ॥

जिसके मुख से पराजित होकर, मानो चंद्रमा शंकित होकर अपने आपको रात में दिखाता है और जिसकी नयनकांति से विजित होकर हिरण ने लज्जा के भार से बनवास ले लिया ॥ ८ ॥

"नंद कहता है—यह वररुचि कवि कैसा ? जो परकाव्य पढ़ता है। मंत्री कहता है—ये सातों, लड़कियाँ होते हुए भी इन काव्यों

को पढ़ती हैं, हे नरनाथ ! इस विषय में यदि आपके मन में संदेह हो तो आप कौतुक से उन्हें पढ़ती हुई सुनें।"

[वररुचि जो भी काव्य पढ़ता, लड़कियाँ बारी-बारी से उसे सुना देतीं। उनमें पहली एक बार सुनकर कंठस्थ कर लेती थी, दूसरी दो बार सुनकर और तीसरी तीन बार सुनकर। नंद ने क्रुद्ध होकर वररुचि को निकाल दिया] ॥ ६ ॥

सायंकाल पानी में दीनार डालकर, प्रातः काल वररुचि गंगा की स्तुति करता है। वह यंत्र-संचार को पैर से दबाता है, वे दीनारें भी, उस आघात से उछल कर वररुचि के हाथ पर चढ़ जातीं हैं, लोग कहते हैं कि गंगा प्रसन्न होकर, वररुचि को देती हैं। नंद यह वृत्तांत जानकर, शकटाल से कहता है ॥१०॥

कोसा श्रमण संवाद—

कोसा नाम की वेश्या ने सोचा यह साधु मेरे प्रेम में पगा है, इसे सुमार्ग पर लगाना चाहिए—उसने कहा—मुझे दम्म लाभ चाहिए—धर्मलाभ नहीं, साधु ने पूछा कितना—कोसा ने 'लाख' मांगा—

उसके द्वारा (कोसा के द्वारा) वह साधु सखेद कहा गया कि तुम जरा भी खिन्न मत होओ। शीघ्र नेपालमंडल में जाओ, वहां का श्रावक राजा, साधु को लाख मूल्य का कम्बल देता है। वह साधु वहां गया और राजा से भेंट की। राजा ने उसे कम्बल दिया, वह उसे दंडतल में छिपा कर वेग से लौटा ॥११॥

उसके बाद (चोरों से) मुक्त होकर वह गया और कोसा के हाथ में कम्बल दे दिया, उसने उसके देखते-देखते उस कंबल को अप्रशस्त गड्ढे में फेंक दिया ॥१२॥

श्रमण दुर्मन होकर बोला—हे कोसे तुमने बहुमूल्य इस

कम्बलरत्न को गड्ढे में क्यों फेंक दिया। मैंने देशांतर में भ्रमण कर, बड़े दुख से इसे प्राप्त किया था। कोसा कहती है—हे महापुरुष ? तुम कम्बल का तो सोच करते हो, पर यह नहीं विचारते कि तुम दुर्लभ संयम रत्न को खो रहे हो ॥१३॥

पार्श्वनाथ की स्तुति—

गगनमार्ग में जिसकी लोलतरंगपरम्परा संलग्न है, और जो निष्कृप और उत्कट नक्र चक्रों के संक्रमण से दुखकर है उछलते हुए, दीर्घ पूछवाले मच्छों की पांत से जो भरा हुआ है। विलसित ज्वालाओं से जटिल वडवानल से जो दुस्तर है, ऐसे सौ सौ आवर्तों से आकुल जलधि (संसाररूपी) को वे लोग गोपद की तरह, शीघ्र तर जाते हैं जो अशेष व्यसनसमूह को नष्ट करने वाले श्री पार्श्वनाथ का संस्मरण करते हैं ॥१४॥

आचार्य हेमचंद

गिरि से पानी पीजिए और वृक्षों से गिरे हुए फल खाइए गिरि व तरुओं के नीचे पड़े रहिए, तब भी विषयों से विराग नहीं होता ॥१॥

जो जहां से है वह वहां से है, शत्रु और मित्र चाहे जो आवें, वे जिस किसी भी मार्ग में लीन हों, मैं दोनों को एक दृष्टि से जोहता हूँ ॥२॥

कोई जन चाहे हमारी निंदा करे, और चाहे प्रशंसा। हम किसी की निंदा नहीं करते और न किसी की प्रशंसा (वर्णन) करते ॥३॥

हे मन आलस्य क्यों करते हो ? विषयों से दूर रहो, इंद्रियो ! रुंधी हुई रहो। मैं भूरि शिवफल काढ़ता हूँ ? ॥४॥

संयम में लीन रहने वाले उसे मोक्षसुख अवश्य मिलेगा, जिस पर, हे प्रिय बलि जाती हूँ—यह कहतीं हुई स्त्रियां प्रभाव नहीं जमा पातीं ॥५॥

हे मूर्ख, भवगहन में क्यों भ्रमा जाता है, मोक्ष कहां से होता है। यदि मन में यह जानने की इच्छा हो, तो जिनआगम देख ॥६॥

नियम रहित, जो रात में भी, कसर कसर कर खाते हैं, वे हहरकर, पापसमुद्र में पड़ते हैं, और लाखों भवों में भ्रमण करते हैं ॥७॥

स्वर्ग के लिए, जीव दया कर, मोक्ष के लिए, दम कर। अन्य कर्मारम्भ तुम किसके लिए करते हो ॥८॥

कायरूपीकुटीर अस्थिर है, यह जीवन भी चल है, इन भवदोषों को जानकर अशुभ भावों का त्याग कर ॥९॥

वे कान धन्य हैं, वे ही हृदय कृतार्थ हैं, जो क्षण क्षण में नवीन श्रुतार्थों को घोंट घोंट कर धारण करते हैं ॥१०॥

जिनागम की एक भी बात जिसके कान में प्रवेश कर गई, उसको 'हमारा तुम्हारा' यह ममत्व नहीं रहता ॥११॥

दूसरा भाग

वर सांवला है, और धन्या चम्पक वर्ण की। मानो सुवर्ण-रेखा कसौटी पर दी गई हो ॥१॥

हे प्रिय, मैंने तुम्हें मना किया कि अधिक मान मत करो। रात नींद में ही चली जायगी, और शीघ्र सबेरा हो जायगा ॥२॥

हे बेटी! मैंने तुमसे कहा कि टेढ़ी दृष्टि मत कर। हे

पुत्री, वह अनीसहित भल्ली की तरह, हृदय में प्रविष्ट होकर मारती है ॥३॥

ये ही वे घोड़े हैं, यही वह स्थली है, ये ही, वे पैने खड्ग हैं, यहीं पर पौरुष जाना जायगा, जो यदि लगाम को नहीं मोड़ता ॥४॥

भुवन भयंकर, शंकर को तुष्ट करने वाला, रावण, श्रेष्ठरथ पर चढ़कर निकला। मानों विधाता ने चारमुख (ब्रह्मा) और छः मुख (कार्तिकेय) का ध्यान कर और उन्हें एक में लाकर उसको (रावण की) रचना की हो ॥५॥

हे सखी अगलित स्नेहवालों का जो स्नेह है लाख योजन जाने और सौ वर्षों में भी मिलने पर भी, वह, सौख्य का स्थान है ॥६॥

अंग से अंग नहीं मिले, और न अधर से अधर। प्रिय का मुंह कमल जोहती हुई उसका सुरत यों ही समाप्त हो गया ॥७॥

प्रवास पर जाते हुए प्रिय ने मुझे जो दिन (अवधि के) दिए, नख से उन्हें गिनते हुए, मेरी उंगलियां जर्जरित हो गईं ॥८॥

सागर तृणों को ऊपर रखता है और रत्नों को तल में। स्वामी सुभृत्य को तो छोड़ देता है और खल का आदर करता है ॥९॥

गुणों से सम्पत्ति नहीं कीर्ति मिलती है, (लोग) लिखित फल ही भोगते हैं। सिंह एक कौड़ी भी नहीं पाता, जब कि हाथी लाखों में खरीदे जाते हैं ॥१०॥

जन, वृक्ष से फलों को ग्रहण करता है और कड़वे पल्लव छोड़ देता है, तो भी सज्जन की तरह, महावृक्ष, उन्हें अंक में धारण करते हैं ॥११॥

दूर स्थान से पतित भी खल जन, अपने ही जन की घात

करता है, जिस प्रकार गिरिशिखर से गिरि हुई शिला अन्य शिलाओं को भी चूर चूर कर देती है ॥१२॥

जो अपने गुण छिपाता है और दूसरे के प्रकट करता है, कलयुग में दुर्लभ, उस सज्जन को मैं बलि जाता हूं ॥१३॥

अवटतट में रहनेवाले तृणों की तीसरी गति नहीं, या तो जन उनसे लगकर उतरते हैं या वे उनके साथ ही डूब जाते हैं ॥१४॥

दैव, वन में पक्षियों के लिए जो वृक्षों के पके फल गढ़ता है, वह उत्तम सुख है, पर कानों में दुर्जन के वचनों का प्रवेश सुखद नहीं ॥१५॥

धवल (धौरा बैल), स्वामी का गुरुभार देखकर विसूर रहा है कि दो टुकड़े करके मुझे ही दोनों ओर क्यों नहीं जोत दिया ॥ १६ ॥

गिरि से शिलातल और वृक्ष से फल नियम से ग्रहण किए जाते है, तब भी मनुष्यों को घर छोड़कर वन नहीं रुचता ॥ १७ ॥

वृक्षों से वक्कल और फल का परिधान तथा भोजन, मुनि भी पाते हैं, स्वामियों से इतना ही अधिक है कि उनसे भृत्य आदर ग्रहण करते हैं ॥ १८ ॥

जग में आग से उष्णता और उसी तरह वायु से शीतलता होती है, यदि जो आग से शीतलता होने लगे तो उष्णता कैसे होगी ॥ १६ ॥

यद्यपि प्रिय विप्रिय करनेवाला है, तो भी उसे आज लाओ। यद्यपि आग से घर जल जाता है तो भी उससे से काम लिया ही जाता है ॥ २० ॥

सांवली, ज्यों ज्यों निश्चितरूप से नेत्रों को बांकापन सिखाती है

त्यों त्यों कामदेव अपने बाणों को खरेपत्थर पर तीखा करता है ॥ २१ ॥

देखो, सौ सौ युद्धों में, हमारा कांत, अतिमत्त त्यक्ताकुंश गजों के गंडस्थलों को विदीर्ण करता हुआ, वर्णित किया जाता है ॥ २२ ॥

हे तरुणिओ, मेरा विचार कर अपना घात मत करो ॥ २३ ॥

भागीरथी की तरह भारती भी तीन मार्गों से प्रवर्तित होती है। [भागीरथी स्वर्ग मर्त्य पाताल से, और भारती, वैदर्भी गौड़ी और पांचाली, इन रीतियों से] ॥ २४ ॥

सर्वाङ्ग सुंदर विलासीनियों को देखते हुए ॥ २५ ॥

अपनी मुखकिरणों से मुग्धा, अंधेरे में भी हाथ देख लेती है। तो फिर शशिमंडल की चाँदनी में दूर तक कैसे नहीं देखती ॥ २६ ॥

दूती नायक से कह रही है—

हे तुच्छराय ? उसका [नायिका का] मध्यभाग तुच्छ है उसका बोलना भी तुच्छ (धीमा) है, उसकी रोमावली हलकी और अच्छी है, उसकी हँसी भी मंद है, उसकी तुच्छकाय में कामदेव का निवास है, प्रियवचन को नहीं पानेवाली उसका जो अन्य भाग भी तुच्छ है वह कहते नहीं बनता, आश्चर्य है कि उस मुग्धा के स्तनों का अंतर इतना थोड़ा है कि उनके मार्ग में मनतक नहीं समाता ॥ २७ ॥

हे बहिन अच्छा हुआ, जो हमारा कंत मारा गया। यदि वह भागकर घर आता. तो मैं सखियों के द्वारा लज्जित होती ॥ २८ ॥

वायस उड़ाती हुई (प्रिया) ने सहसा प्रिय को देखा,

उसकी, आधी चूड़ियाँ धरती पर गिर गईं, और आधी तड़ तड़ होकर फूट गईं ॥ २६ ॥

भ्रमर समूह कमल को छोड़कर हाथियों के गंडस्थल की सेवा करते हैं। जिनको असुलभ की इच्छा का हठ है वे दूर को नहीं गिनते ॥ ३० ॥

अपनी सेना को भग्न और शत्रु की सेना को प्रसारित देखकर, प्रिय के हाथ में तलवार, शशिरेखा की तरह चमक उठती है ॥ ३१ ॥

यदि तिलके समान तारावाली उसका मुझ से स्नेह टूट गया है, और कुछ भी शेष नहीं है, तो फिर क्यों उसके द्वारा तिरछे नेत्रों से सौ बार देखा जाता हूँ ॥ ३२ ॥

जहाँ सर से सर काटा जाता है और खड्ग से खड्ग छेदा जाता है, वहाँ उस भटघटासमूह में, कंत मार्ग-प्रकाशन करता है ॥ ३३ ॥

वियोगवर्णन—

उस मुग्धा की एक आँख में साँवन, और दूसरी में भादों, महीतल के संस्तर में माधव, कपोलों में शरद्, अंगों में ग्रीष्म, सुखासिकारूपी तिलवन में अगहन और मुखकमल में शिशिर का आवास है ॥ ३४-३५ ॥

हृदय तड़क कर फूट जाओ, कालक्षेप करने से क्या? देखूँ, हतविधि तुम्हारे बिना, दुखशतों को कहाँ रखता है ॥ ३६ ॥

हला सखी! हमारा कंत जिसपर रूठ जाता है, अस्त्र शस्त्र और हाथों से उसके ठांव को भी नष्ट भ्रष्ट कर डालता है ॥ ३७ ॥

जीवन किसे प्यारा नहीं होता, और धन किसे इष्ट नहीं

होता, पर अवसर आने पर, विशिष्टजन दोनों को तृणसम गिनता है ॥ ३८ ॥

नाथ, जो आंगन में बैठता है, सो वह रण में भ्रांति नहीं करता ॥ ३९ ॥

यह कुमारी है, यह नर है और यह मनोरथों का स्थान है, ऐसा सोचते-सोचते मूर्खों का, अंत में सबेरा हो जाता है ॥ ४० ॥

यदि तुम बड़ा घर पूछते हो तो, बड़े घर वे हैं। विकलितजनों का उद्धार करनेवाले कंत को कुटीर में देखो ॥ ४१ ॥

लोगों के इन नेत्रों को जाति स्मरण है इसमें संदेह नहीं, क्योंकि वे अप्रिय को देखकर मुकुलित होते हैं और प्रिय को देखकर विकसित ॥ ४२ ॥

चाहे समुद्र सूखे या न सूखे, वडवानल को इससे क्या, आग जो जल में जलती है क्या यह पर्याप्त नहीं है ॥ ४३ ॥

इस दग्धशरीर से जो कुछ भी पाया जाय वही सार है, यदि उसे ढका जाय तो सड़ता है, और यदि जलाया जाय तो छार छार होता है ॥ ४४ ॥

सभी लोग बड़प्पन के लिए तड़फड़ाते हैं, पर बड़प्पन मुक्तहस्त देने से ही प्राप्त किया जाता है ॥ ४५ ॥

नायिका दूती पर व्यंग कर रही है—

हे दूती ! यदि वह घर नहीं आता है, तो तुम्हारा मुँह नीचा क्यों है, हे सखी जो तुम्हारे वचन को खंडित करता है, वह हमारा भी प्रिय नहीं। [यहाँ 'वयणु' में श्लेष है, वदन और वचन] ॥ ४६ ॥

कहो, किस कार्य से सुपुरुष कङ्गुलता का अनुकरण करते हैं, ज्यों ज्यों वे बड़प्पन पाते हैं, त्यों त्यों शिर झुकाते जाते हैं ॥४७॥

यदि वह स्नेहयती है तो मर गई, अथवा जीती है तो स्नेह-विहीन है, दोनों प्रकार से प्रिया चली गई, हे दुष्ट मेघ ? अब क्यों गरजते हो ॥४८॥

हे भ्रमर, अरण्य में रुनझुन मत करो, और उस दिशा को देखकर रोओ मत, वह मालती देशांतरित हो गई है जिसके वियोग में तुम मरते हो ॥४९॥

हे वस्तरु, तुम्हारे द्वारा मुक्त पत्तों का पत्तापन नष्ट नहीं होता, पर यदि तुम्हारी छाया, किसी तरह होगी, तो उन्हीं पत्तों के द्वारा ॥ ५० ॥

मेरा हृदय, तुम्हारे द्वारा, उसके द्वारा, तुम, और वह भी अन्य के द्वारा, विडम्बित की जाती है। प्रिय ! क्या मैं करूं और क्या तुम करो। मछली मछली के द्वारा खाई जाती है ॥५१॥

तुम और हम दोनों के रण में जाने पर, जयश्री की तर्कणा कौन करता है ? कहो, यमस्त्री के बाल खींच कर कौन सुख से रह सकता है ॥५२॥

तुम्हारे छोड़ने पर मेरा और मेरे छोड़ने पर तुम्हारा, मरण (निश्चित) है, हे सारस (प्रिय के लिए संबोधन) जिसका जो दूर है, वही कृतांत का साध्य है ॥५३॥

तुमने और हमने जो किया, वह बहुत लोगों ने देखा। वह उतना बड़ा रणभार, एक क्षण में जीत लिया ॥५४॥

तुम्हारी गुण-सम्पत्ति, तुम्हारी मति और लोकोत्तर शांति, यदि अन्यजन महिमंडल में उत्पन्न होकर सीखें, (तो ठीक है) ॥५५॥

हम थोड़े हैं और शत्रु बहुत हैं, ऐसा कायर ही कहते हैं। हे मुग्धे ! देखो, गगनतल में कितने जन, प्रकाश करते हैं ॥५६॥

अपनापन लगाकर जो पथिक पराये से चले गए हैं, वे भी अवश्य सुख से नहीं सोते. जैसे हम तैसे वे ॥५७॥

मैंने समझा था कि प्रिय-विरहिताओं को रात में कुछ आसरा होगा, पर यह चंद्रमा उस प्रकार तपता है जिसप्रकार क्षयकाल में दिनकर ॥५८॥

हे सखी, झूठ मत बोलो, मेरे कंत के दो दोष हैं—एक तो, देते हुए मैं ही बचती हूं, और दूसरे, युद्ध करते हुए करवाल ॥५९॥

यदि परकीय सेना भग्न हुई, तो हे सखी, मेरे प्रिय के द्वारा, और यदि हमारी सेना भग्न हुई, तो उसके मारे जाने पर ही ॥६०॥

उसका मुख और कबरीबंध ऐसे सोहते हैं मानो शशि और राहू मल्लयुद्ध कर रहे हैं। भ्रमर समूह से तुलित उसके कुटिल केश ऐसे सोहते हैं मानो तिमिर के बच्चे मिलकर खेल रहे हैं ॥६१॥

हे पपीहे, पिउ पिउ कहकर और हताश होकर कितना ही रोओ ? पर तुम्हारी जल में और हमारी वल्लभ में, दोनों की आशा पूरी नहीं होती ॥६२॥

हे पपीहे, बार बार निर्घिण बोलने से क्या, विमल जल स सागर भर गया, फिर भी, एक भी धार नहीं मिली ॥६३॥

इस जन्म में और दूसरे जन्म में भी, हे गौरी ! मुझे ऐसा पति दो जो त्यक्तांकुश मत्तगजों का हंसते हंसते पीछा करता है।

से अभ्यर्थना करने पर वह विष्णु भी छोटे हो गए, यदि बड़प्पन चाहते हो तो किसी से मांगो मत ॥६५॥

चाहे विधि रुठ जाय और चाहे ग्रह पीड़ित करें। हे धन्ये, तुम विषाद मत करो, यदि व्यवसाय बढ़ जाय, तो मैं वैश्य की तरह शीघ्र ही सम्पत्ति को काढूंगा ॥६६॥

हे प्रिय जहां खड्ग का साधन मिले उस देश को चलें यहां रण-दुर्भिक्ष से हम लोग भग्न हुए हैं युद्ध के बिना नहीं लौटेंगे। [जैसे दुर्भिक्ष के कारण भागे लोग, सुभिक्ष के बिना नहीं लौटते] ॥६७॥

हे कुंजर ? सल्लकी का स्मरण मत कर, ठंडी सांस मत छोड़, विधि के वश से, जो ग्रास मिले, वही खा ले, पर मान मत छोड़ ॥६८॥

हे भ्रमर ? कुछ दिन यहां इस नीम में विलम्ब कर लो, जब तक घने पत्तोंवाले और छायाबहुल कदम्ब नहीं फूलते।

हे प्रिय ? करवाल छोड़कर तुम यह सेल हाथ में ले लो, जिससे वेचारे कापालिकों को अभग्न कपाल मिलें ॥७०॥

दिन झटपट चले जाते हैं, मनोरथ पीछे पड़ जाते हैं। जो है उसी को मान, 'होगा' यह करता हुआ मत बैठ ॥७१॥

जो वर्तमान भोग का परिहार करता है, उस कंत की बलिहारी कीजिए। जिसका सिर गंजा है, उसे तो विधाता ने ही मूड दिया ॥७२॥

स्तनों का जो अत्यधिक ऊंचापन है, वह हानि ही है लाभ नहीं। हे सखी, नाथ, किसी तरह, त्रुटिवस, अधर तक पहुंच पाता है ॥७३॥

यह कहकर शकुनि ठहरा, पुनः दुःशासन बोला—तो मैं जानूं कि यह हरि है—यदि (यह) मेरे आगे बोलें ॥७४॥

जिस किसी तरह तीखी किरणें लाकर यदि शशि को छोला जाय तो वह जग में, गोरी के मुखकमल की कुछ समानता पा सकता है ॥७५।

श्वासानल की ज्वाला से संतप्त और वाष्पजल से संसक्त होकर मुग्धा के कपोल पर रखी हुई चूड़ी चूर चूर हो जायगी ॥७६॥

(अभिसारिका) जब तक दो पैर चलकर प्रेम निबाहती है तब तक चंद्रमा की किरणें फैल गईं। [सर्वाशन, आग का नाम है, उसका शत्रु समुद्र है और समुद्र का पुत्र चंद्रमा। 'अब्भड-वंचिउ' एक पद है] ॥७७॥

हे अम्मा, पयोधर वज्र से है जो नित्य मेरे उस कांत के सामने खड़े रहते है जिससे युद्धक्षेत्र मे गजघटा भाग जाती है ॥ ७६ ॥

हृदय में गोरी खटकती है और आकाश में मेघ घुड़क रहे है। वर्षा की रात में प्रवासियों के लिए यह विषम संकट है ॥७८॥

उस पुत्र के होने से क्या लाभ और मरने से क्या हानि है, जिसके बाप की भूमि दूसरे के द्वारा चांप ली जाय ॥८०॥

सागर का उतना ही जल है और उतना ही विस्तार है, पर तृषा का निवारण एक पल भी नहीं होता फिर भी वह व्यर्थ गरजता है ॥८१॥

असतियों ने चंद्रग्रहण देखकर उसका उपहास किया—हे राहू, प्रियजनों को विक्षोभ करने वाले उस मयक को ग्रस लो ॥८२॥

हे अम्मा ? स्वस्थावस्था में सुख से मान की चिता की जाती है, प्रिय को देखने पर हड़बड़ी से अपनी सुध कौन रख सकता है ॥ ८३ ॥

शपथ करके मैंने कहा कि उसी का जन्म अत्यन्त सफल है, जिसका त्याग, वीरता, नय और धर्म भ्रष्ट नहीं हुआ ॥८४॥

यदि प्रिय को किसी प्रकार पाऊ तो अकृत आश्चर्य करूंगी। नये सकोरे में पानी की तरह, उसके सर्वांग में व्याप्त हो जाऊंगी ॥८५॥

देखो स्वर्णिम कांतिवाला कनेर प्रफुल्लित है, मानो गोरी के मुख से पराजित होकर वह बनवास का सेवन कर रहा है ॥८६॥

व्यास महाऋषि यह कहते हैं कि यदि श्रुति और शास्त्र

प्रमाण हैं तो माता के चरणों में नमस्कार करने वालों का प्रति दिन गंगा स्नान होता है ॥ ८७ ॥

दुष्ट दिन किस प्रकार विताऊं और किस प्रकार रात जल्दी हो, नववधु के दर्शन की लालसा से वह [विविध] मनोरथ कर रहा है ॥ ८८ ॥

अरे, गोरी के मुख से पराजित चंद्रमा जब बादलों में छिप गया तो जो अन्य पराभूत–तनु है वह कैसे निसंक घूम सकता है ॥ ८६ ॥

हे आनंद ! तन्वी के बिम्बाधर पर स्थित दन्तक्षत ऐसा जान पड़ता है, मानों प्रिय ने निरुपम रस पीकर शेष पर मुद्रा लगा दी है ॥ ६० ॥

हे सखी यदि प्रिय मेरे विषय में सदोष हों, तो मुझसे एकान्त में कहो जिससे वह यह न जाने कि मेरा मन उसमें अनुराग रखता है ॥ ६१ ॥

हे बलिराज, मैंने तो (शुक्राचार्य ने) तुमसे कहा ही था कि यह कैसा मांगनेवाला है, हे मूर्ख, यह ऐसा वैसा आदमी नहीं है, यह स्वयं नारायण हैं ॥ ६२ ॥

यदि वह प्रजापति कहीं से भी शिक्षा लेकर निर्माण करता है, तो इस जग में जहाँ कहीं भी उसकी समानता (उसके समान सुंदर) बताओ ॥ ६३ ॥

जब तक कुंभतटों पर सिंह की चपेट की मार नहीं पड़ती तब तक मदवाले गजों की चिग्घाड़ पद पद पर हो रही है ॥ ६४ ॥

तिलों का तिलपन तभी तक है जब तक स्नेह (तेल) नहीं गलता, नेह नष्ट होने पर वे ही तिल, ध्वस्त होकर खल हो जाते हैं ॥ ६५ ॥

जब जीवों की विषम कार्यगति आती है, तब दूसरों की तो बात क्या, स्वजन भी किनाराकशी कर लेता है ॥ ६६ ॥

परस्पर लड़ते हुए जिनका स्वामी पराजित हो गया, उनके लिए परोसे गए मूँग व्यर्थ हैं। [मूँग परोसना, वीरता के लिए आदर सूचक मुहावरा है] ॥ ९७ ॥

हे ब्रह्मन् वे मनुष्य विरल हैं जो सर्वाङ्गदक्ष होते हैं, जो कुटिल हैं वे वंचक हैं, जो ऋजु हैं वे बैल हैं ॥ ९८ ॥

वे दीर्घ नेत्र और ही हैं, वह भुजयुगल भी और है। धन्या का स्तनभार भी अन्य है और वह मुख कमल भी अन्य है ॥ ९९ ॥

केश कलाप भी अन्य है, प्रायः वह विधाता ही अन्य है जिसने गुणलावण्यनिधि उस नितम्बिनी का निर्माण किया ॥१००॥

प्रायः मुनियों को भी भ्रांति है, वे मनका गिनते रहते हैं और अक्षय, निरामय परमपद में आज भी लौ नहीं लगाते ॥१०१॥

हे सखी उस गोरी के नयनसर प्रायः अश्रुजल से बुझे हुए हैं, इसलिए सम्मुख संप्रेषित होकर भी, वे तिरछी घात करते हैं ॥१०२॥

प्रिय आयगा, मैं रूठूँगी, रूठी हुई मुझे वह मनाएगा, प्रायः इन मनोरथों को दुष्कर दैव कराता है ? ॥१०३॥

विरहानल की ज्वाला से करालित कोई पथिक डूबकर (जल में) स्थित है, अन्यथा शिशिरकाल में शीतल जल से धुआँ कहाँ से उठा ? ॥१०४॥

गोष्ठी में स्थित मेरे कंत के झोपड़े कैसे जल रहे हैं। या तो वह शत्रु के रक्त से या फिर अपने रक्त से उन्हें बुझाएगा, इसमें भ्रांति नहीं ॥१०५॥

प्रिय के साथ नींद कहाँ, और प्रिय के परोक्ष में भी नींद कहाँ, मैं दोनों तरह नष्ट हुई, नींद न यों न त्यों ? ॥१०६॥

कंत की जो सिंह से उपमा दी जाती है, उससे मेरा मान खंडित होता है, क्योंकि सिंह अरक्षित हाथी को मारता है और प्रिय पदरक्षकों समेत, मारता है ॥१०७॥

जीवन चंचल है, मरण निश्चित है, हे प्रिय क्यों रूठा जाय, रूठने से दिन, दिव्य वर्ष शत हो जाँयगे ॥१०८॥

मान नष्ट होने पर यदि शरीर न छूटे तो देश छोड़ देना चाहिए? दुर्जनों के करपल्लवों द्वारा दिखाए जाते हुए मत घूमो ॥१०९॥

पानी से नमक (लावण्य) विलीन हो जाता है, अरे दुष्ट मेघ गर्ज मत, मोड़कर बनाया हुआ मेरा सुन्दर झोपड़ा गलता होगा और मेरी गोरी भीगती होगी। [वालिउ का अर्थ मोड़ा हुआ होता है अबतक इसका ज्वालित अर्थ किया गया है, पर यह ठीक नहीं जान पड़ता क्योंकि ज्वालित का जालिउ रूप होता है, वालिउ नहीं] ॥११०॥

(मेरा प्रिय) वैभव नष्ट होने पर वाँका और ऋद्धि के समय साधारण रूप से रहता है। शशि ही थोड़ा बहुत मेरे प्रिय की समानता कर सकता है, अन्य नहीं ॥१११॥

न खाता है, न पीता है, न दूर करता है और न धर्म में भी एक रुपया व्यय करता है, वह मूर्ख कृपण नहीं जानता कि एक क्षण में यम का दूत आ पहुँचेगा ॥११२॥

उस देश को जाया जाय और प्रिय का पता लगाया जाय, यदि वह आवे तो उसे लाया जाय अथवा वहीं प्राण-विसर्जन किया जाय? ॥११३॥

जो प्रवास करते हुए उसके (प्रिय के) साथ नहीं गई, और न उसके वियोग में मरी, उस सुभगजन को संदेश देते हुए, अब मैं लज्जित होती हूँ ॥ ११४॥

इधर से मेघ पानी पीते हैं, और इधर से वडवानल जल शोषित करता है, फिर भी सागर की गम्भीरता देखो उसकी एक भी बूँद नहीं घटती? ॥११५॥

जाओ, जाते हुए को नहीं रोकती। देखूं कितने पैर देते हो। हृदय में मैं ही तिरछी अड़ी हूँ, फिर भी प्रिय आडम्बर करता है ॥११६॥

हरि, प्रांगण में नचाए गए। लोग आश्चर्य में पड़ गए। इस समय राधा के पयोधरों को जो रुचता है वही होता है ॥११७॥

वह सर्वांगसलोनी गोरी, कोई नई ही विष की गांठ है, जो भट उसके गले नहीं लगता वह मारा जाता है ॥११८॥

मैंने कहा तुम जुए को रक्खो, हम अधम बैलों से परेशान हैं, हे धवल, तुम्हारे बिना भार नहीं चढ़ता, इस समय तुम विषण्ण क्यों हो ? ॥११६॥

एक तो कभी नहीं आता, दूसरा आता है पर शीघ्र चला जाता है। हे मित्र मैंने यही प्रमाणित किया कि निश्चय ही तुम्हारे जैसा दूसरा नहीं ॥१२०॥

जिस तरह सत्पुरुष है, उसी प्रकार झगड़े हैं, जिस तरह नदी है, उसी प्रकार घुमाव हैं, जिस प्रकार पहाड़ है उसी प्रकार कोटर हैं- हे हृदय क्यों विसूरते हो ॥१२१॥

जो रत्ननिधि को छोड़कर अपने को तट पर फेंकते हैं, नीच, उन शंखों को फूंकते हुए घूमते हैं, ॥१२२॥

प्रतिदिन कमाया हुआ खा, एक भी पैसा मत जोड़। हे मूर्ख ! कोई भी ऐसा भय आ पड़ेगा, जो जीवन ही समाप्त करदेगा ॥१२३॥

यद्यपि कृष्ण, सर्वादर से एक एक गोपी को अच्छी तरह जोहते हैं, तो भी जहांकहीं राधा हैं, वहां स्नेहसिक्त और दग्धनयना उनकी दृष्टि को कौन रोक सकता है ? ॥१२४॥

वैभव में किसकी थिरता और यौवन में किसका अहंकार, वही लेख भेजा जाता है जो खूब नीचट लगता है ॥१२५॥

कहां चंद्रमा और कहां समुद्र, कहां मोर और कहां मेघ, दूरस्थित भी सज्जनों का असाधारण स्नेह होता है ॥१२६॥

हाथी दूसरे वृक्षों पर कौतुक से ही सूंड़ को घालता है। यदि सच पूछो तो उसका मन एक अकेलो सल्लकी में है ॥१२७॥

हमने खेल किया है। निश्चय क्या है कहिए ? हे स्वामी ! अनुरक्त हम भक्तों को, मत छोड़िए ? ॥१२८॥

नदी सर, सरोवर, और उद्यान वनों से देश सुंदर नहीं होते। किन्तु हे मूर्ख ? सज्जनों के निवास से ही देश रमणीय होते हैं ॥१२९॥

हे अद्भुतसार भाण्डहृदय ! पहले तुमने मेरे आगे सौ बार यह कहा था कि प्रिय के प्रवास करने पर मैं फट जाऊंगा ? ॥१३०॥

एक शरीर रूपी कुटी है जो पांच से (इंद्रियों से) अवरुद्ध है, और उन पांचों की अपनी अपनी बुद्धि है, हे बहिन, कहां वह घर कैसे सुखी हो, जहां कुटुम्बीजन स्वछंद स्वभाव के है ॥१३१॥

जो पुनः मन में ही फुसफुसाता हुआ चिंता करता है। न दमड़ी देता है और न रुपया, वह मूर्ख रतिवश भ्रमण करता है और कराग्र से उल्लालित भाले को घर में ही गुनता रहता है ॥१३२॥

हे बाले, चंचल और चलते हुए नेत्रों से, तुमने जिनको देखा, उनके ऊपर अकाल में ही, कामदेव ने शीघ्र, आक्रमण कर दिया ॥ १३३ ॥

जिसकी हुंकार के कारण, (तुम्हारे) मुँह से तिनके गिर पड़ते थे, वह केसरी चला गया है, हे हिरणो ? अब निश्चिन्त होकर पानी पिओ ? ॥१३४॥

स्वस्थावस्था वालों से सम्भाषण सभी लोग करते हैं, पर आर्त-जनों को 'डरो मत' यह वचन वही देता है जो सज्जन है, ॥१३५॥

हे मुग्ध स्वभाव हृदय ? यदि तुम जो जो देखते हो उसी में रमते हो, तो कूटे जाते हुए लोहे की तरह घना ताप सहोगे ॥१३६॥

मैंने जाना था कि मैं प्रेमसमुद्र में हहर कर डूबूंगी । नहीं. किंतु शीघ्र ही, अचिंतित विप्रियरूपी नाव आ पहुंची ॥१३७॥

न तो कसर कसर कर खाया जाता है और न घूँट-घूँट से पिया जाता है. नेत्रों से प्रिय को देखने पर ऐसी ही सुखदस्थिति होती है ॥१३८॥

आज भी हमारा स्वामी घर पर सिद्धों की वंदना कर रहा है, तो भी विरह, गवाक्षों से वंदरघुड़की देता ॥१३९॥

सिर पर विशीर्ण कम्बल, और गले में वीस मनका भी नहीं हैं, तो भी मुग्धा के द्वारा गोष्ट में (युवकों से) उठाबैठक करवाई जाती है ॥१४०॥

हे अम्मा मुझे पछतावा है कि रात में प्रिय से कलह की । विनाशकाल में वुद्धि विपरीत हो जाती है ॥१४१॥

हे प्रिय, कहो ऐसा परिहास किस देश में होता है, मैं तो तुम्हारे लिए झीज रही हूँ और तुम दूसरे के लिए ॥१४२॥

उसी प्रिय का स्मरण किया जाय जो थोड़ा ही विसरता है जिसका पुनः स्मरण होकर चला जाय उससे नेह का क्या नाम ॥१४३॥

नायक जिह्वेन्द्रिय को वश में करो, जिसके अधीन अन्य इन्द्रियां हैं, तूंवी का मूल नष्ट होने पर, पत्ते अवश्य सूख जाते है ॥१४४॥

एक बार शील कलंकितकरनेवाले को प्रायश्चित दिये जाते हैं पर जो रोज रोज शील को खंडित करता है उसको क्या प्रायश्चित ? ॥१४४॥

विरहाग्नि की ज्वाला से कराल, जो पथिक मार्ग में दीख पड़ा उसको सब पथिकों ने मिलकर अग्निस्थ कर दिया ॥१४६॥

स्वामी का प्रसाद (कृपा), प्रिय की लज्जाशीलता !

सीमान्तप्रदेश का वास और पति का बाहुबल में गर्व देखकर धन्या ठंडी सांसें छोड़ रही है ॥१४७॥

पथिक, (तुमने) गोरी देखी, हां—मार्ग को देखती हुई और आंसू तथा उच्छ्वासों से चोली को गीली और सूखी करती हुई, उसे मैंने देखा ॥१४८॥

प्रिय आया इस शुभ बात की ध्वनि जब कान में प्रविष्ट हुई, तब ध्वस्त होते हुए उस विरह की धूल भी नहीं दिखी ॥१४९॥

हे प्रिय ! तुम्हारे संदेश से क्या जो साथ नहीं मिला जाता, स्वप्न में पिए पानी से क्या प्यास बुझती है ? ॥१५०॥

यहाँ वहाँ, घर द्वार में, लक्ष्मी, विसंस्थुल होकर दौड़ती है प्रिय से भ्रष्ट होकर गोरी कहीं भी निश्चिंत नहीं बैठती ॥१५१॥

कोई सिद्ध पुरुष द्रव्य के बदले में किसी स्त्री का पति बलि के लिये चाहता है। स्त्री उससे कहती है—

यह ग्रहण करके जो मैं अपने प्रिय को छोड़ दूँ तो मेरा कुछ भी कर्तव्य नहीं, केवल मुझे मरने दिया जाय ? ॥१५२॥

लोक में जो देश त्याग, आग में कढ़ना और घन से पिटना है, वह सब, अतिरक्त मंजीठ के द्वारा ही सहने योग्य है [यहाँ पर अतिरक्त का प्रेमी अर्थ भी गृहीत है] ॥१५३॥

हे हृदय, यदि शत्रु बहुत हैं तो क्या हम आकाश में चढ़ जायँ, यदि हमारे भी दो हाथ हैं, तो मारकर मरेंगे ॥१५४॥

वह, विष (जल) लानेवाले उन दोनों हाथों को चूमकर अपना जीव रखती है, जिन हाथों के द्वारा प्रतिबिम्बित मूँजवाला, जल, उसने प्रिय को पिलाया था ॥१५५॥

हे मुंज ! बाँह छुड़ाकर जाते हो, इसमें क्या दोष। हृदय में स्थित यदि निकल जाओ तो मैं जानूं कि तुम रुष्ट हो ॥१५६॥

अशेष कषाय बल को जीतकर, जग को अभय देकर, महाव्रत

ग्रहण कर और तत्त्व का ध्यानकर शिव प्राप्त करते हैं ॥१५७॥

अपना धन देना दुष्कर है तप करना भी नहीं भाता, यों सुख भोगने का मन है पर भोगा नहीं जाता ॥१५८॥

जीतना, त्यागना, समस्त धरती को लेना, तप पालना, बिना शांतिनाथ तीर्थंकर के विश्व में कौन कर सकता है ॥१५९॥

वाणारसी जाकर, अथवा उज्जयिनी जाकर जो मरते हैं वे परमपद पाते हैं, दिव्यान्तर की तो बात ही क्या ॥१६०॥

गंगा जाकर, या शिवतीर्थ जाकर जो मरता है वह यमलोक को जीतकर और स्वर्ग में जाकर क्रीड़ा करता है ॥१६१॥

रवि अस्त होने पर घबड़ाए हुए भौंरे ने, मृणाल के खंड को कंठ में रख लिया, उसे काटा भी नहीं, मानों [वियोग में] जीवार्गल दिया हो ॥१६२॥

बलयावलि के गिरने के भय से धन्या ऊंची बाँह करके जा रही है, मानो प्रिय के वियोगसमुद्र की थाह खोज रही हो ॥१६३॥

जिनवर का दीर्घनेत्रवाला और सलोना मुख देखकर, मानो गुरुमत्सर से भरकर, नमक, आग में प्रवेश करता है ॥१६४॥

हे सखी ! चम्पककुसुम के बीच में भौंरा बैठा है, मानो स्वर्ण पर स्थित इन्द्रनीलमणि सोहता हो ॥१६५॥

बादल पहाड़ से लग रहे हैं और पथिक यह रटता हुआ जाता है कि जो मेघ, गिरि को भी लील लेने का मन रखते हैं वे धन्या पर क्या दया करेंगे ? ॥१६६॥

आँतें पैरों में लग गई हैं और सिर कंधे पर झुक गया है, तो भी हाथ कटार पर हैं, मैं कंत की बलि जाती हूँ ॥१६७॥

पक्षी सिर पर चढ़कर फल खाते हैं और फिर डालों को मोड़ते भी हैं। तो भी महावृक्ष उनको अपराधी नहीं मानते ॥१६८॥

शुद्धिपत्र

अशुद्ध	शुद्ध	पृष्ठ	पंक्ति
राजभाषा	राष्ट्रभाषा	३	२४
तद्मव	तद्भव	६	१०
नामिसाधु	नमिसाधु	१२	११
—भारत	—भारत में	१७	१४
कि थै	किथै	२०	१
सो	से	२०	१०
माथा	गाथा	२०	१५
छोरका तुटउ	छोटउ तुरका	२१	१६
साहित्य सृष्टि में	साहित्य की सृष्टि	२१	२४
र्जाति	जंति	२७	४
वात्य	वाटय	२७	६
वात्य रह्य	वाटय रहृय	२७	१६
भविसत्त	भविसयत्त	३०	६
उ	ऊ	३७	८
ज को······य होता है	य को······ज होता है	३८	१
श्म	ष्म	३६	२
देश	देश = देस	४०	२४
सम्प्रदान	सम्प्रदान	४७	१४
इकारान्त	ईकारान्त	४८	६
कम	कर्म	५६	१
द्वितीय पुरुष	मध्यम पुरुष	५८	३

अशुद्ध	शुद्ध	पृष्ठ	पंक्ति
प्रथम पुरुष	उत्तम पुरुष	५८	१२
सामन रूप	समान रूप	५९	२
सब	सर्व	५९	७
तुम्हारा	तुम्हार	६१	१३
स्वर्ग	दिन	६६	४
खाई	खाइ	६६	६
सऊणाहं	सउणाहं	७१	२४
लालित्यत्या···	लालित्या···	८७	२
प्रकृत	प्राकृत	८८	३
प्रयुत	प्रयुक्त	८९	१३
आगे	आदि	८९	२०
-में कर्तरि-	-में कई जगह कर्तरि-	९३	१४
पयारं	पयारेहिं	११७	५
अब्भत्थिमि	अब्भत्थिम्मि	,,	६
णिसमाहि	णिसम्महि	,,	८
सरस	सरसे	,,	,,
वयण	वयणे	,,	८
दुज्जबु	दुज्जणु	११८	११
णिसोणि	णिसेणि	,,	२१
वसणांसत्त	वसणासत्त	११९	३
उज्झंत	डज्झंत	,,	४
एह	एहु	,,	११
सज्जमि	संज्जमि	,,	२१
खड	खउ	१२०	७

अशुद्ध	शुद्ध	पृष्ठ	पंक्ति
जलवाहिणी	जलवाहिणि	१२०	२०
णरवरू	णरवरु	१२१	२
मंतिमंतिविहि	मंति मंतविहि	,,	७
भाइयउ	भाइयउ	,,	१७
भामासुरु	भाभासुरु	,,	१८
परहिं	पासेहिं	,,	२१
लोवंति	लोट्टंति	१२२	१
तस्य	तस्स	,,	३
ह्वणिक्क	हणणिक्क	,,	५
दुव्वयणण	दुव्वयण	,,	६
तुरिइउ	तुरिउ	,,	८
उत्तस्य	उत्तस्स	,,	१०
णाडिउ	णाडिउ	,,	१२
रुवेण	रूवेण	,,	१३
दिण्णवाहु	दिण्णदाहु	,,	१५
घणगिहरसद्दु	घणगहिरसद्दु	,,	१८
णउथसमइ	ण उवसमइ	१२३	७
गोवज्जिएणिं	गोवज्जिएहिं	१२३	१७
वरकइणिं दिज्जइ	वरकइ णिंदिज्जइ	,,	२०
परिमहोउ	परि-म होउ	,,	२२
उच्छुव णइं	उच्छुवणइं	१२४	१२
णदिरु	णंदिरु	१२४	१७
ण	णं	,,	१६
विंभरिय	विंभरिय	,,	२२

अशुद्ध	शुद्ध	पृष्ठ	पंक्ति
लुचणु	लुंचणु	१२५	५
ह्लिक	ह्लिक्क	,,	५
टकइ	ढंकइ	,,	६
शरीर	सरीर	,,	१२
ण	णं	,,	१८
तृपहि	तृयहि	,,	१६
अबलवि	अबलंवि	,,	२३
गाप्पणेण	गोप्पएण	१२६	५
माम्मिज्जइ	माणिज्जइ	,,	,,
छुड़	छुडु	,,	१७
धरिपइ	धरियइं	,,	२०
आसरवार	आसवार	१२७	१
कुलपर	कुलयर	,,	१४
कि	कि	,,	१६
विहरंतरिय	विहुरंतरिय	,,	२३
पुणरावि	पुण रणि	,,	२४
साित्तउ	सोत्तिउ	१२८	१०
णिज्जिलेण	णिज्जलेण	,,	१३
तरुण	तरुणा	,,	१३
ज्भु	मज्भु	,,	१८
मग्गु	भग्गु	,,	,,
स	ण	,,	२२
रिउं संउहुं	रिउ सउहुं	१२६	१३
तोणी-रज	तोणीर-जुयलु	,,	१५

अशुद्ध	शुद्ध	पृष्ठ	पंक्ति
सय णरवरणी	णयणर वरणी	१३०	८
दिराण	दियण	,,	१८
भंतेउरु	अंतेउरु	१३१	३
ताएं	आएं	,,	१६
लोणिय	लोणिय	१३२	१४
सयणथलें	मयणयलें	१३३	१६
थोणंतरि	थोबंतरि	१३४	१३
पइट्ठ	पइट्ठु	,,	२०
पंचवलद्ध	पंचबलद्द	१३६	७
मणिवि	भणिवि	१४०	६
फिहियमंतडी	फिट्टियभंतडी	,,	१८
केवि	केवि	१४२	१
मणु	भणु	,,	३
हणइ	हयइं	,,	४
अट्ट	अह	१४३	२
लट्टह	लट्टइ	,,	७
चउदहइ	चउदसइ	१४४	१६
सायरु	सायरु	१४५	१
करालिअइं	करालिहिं	,,	६
दरि	उरि	,,	१६
ढालियउं	ढालियउ	१४६	३
विद०भहि	विद०भहि	१४८	१
रमुणि	रमणि	१४६	६
सयणु	सयलु	१५०	२२

अशुद्ध	शुद्ध	पृष्ठ	पंक्ति
भराइ	भणइ	१५२	१७
घण	धण	१५५	१
मइ	मइं	,,	५
धरेइं	धरेइ	१५६	२
अग्गलिउं	अग्गलउं	,,	१६
वेग्गाला	वेग्गाला	१५६	१२
सुधि	सुघि	१६१	१
वणावासु	वणवासु	,,	८
मुअजुयलु	भुअजुयलु	१६२	६
घण	धण	,,	१०
तावि	तोवि	१६५	१३
जाताउं	जाणउं	१६८	८
घर	धर	,,	१३
पहाड़ खंड	पाषाड़ खंड	१८७	१६
सूड़ों से—	घोड़ों और हाथियों से	२०१	३